श्रीमत् अष्टावक्रगीता का हिन्दी अनुवाद

सान्वयभाषाटीकासमेता अष्टावक्रगीता

॥ श्रीः ॥

अथ

अष्टावक्रगीता

सान्वय-भाषाटीकासहिता।

कथं ज्ञानमवाप्नोति कथं मुक्तिर्भविष्यति ।
वैराग्यं च कथं प्राप्तमेतद्ब्रूहि मम प्रभो॥ १ ॥

अन्वय:- हे प्रभो ! (पुरुषः) ज्ञानम् कथम् अवाप्नोति । (पुंसः) मुक्तिः कथम् भविष्यति । (पुंसः) वैराग्यम् च कथम् प्राप्तम् (भवति) एतत् मम ब्रूहि ॥ १ ॥

एक समय मिथिलाधिपति राजा जनक के मन में पूर्वपुण्य के प्रभाव से इस प्रकार जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि, इस असार संसाररूपी बंधन से किस प्रकार मुक्ति होगी और तदनंतर उन्होंने ऐसा भी विचार किया कि, किसी ब्रह्मज्ञानी गुरु के समीप जाना चाहिये, इसी अंतर में उन को ब्रह्मज्ञान के मानो समुद्र परम दयालु श्रीअष्टावक्रजी मिले । इन मुनि की आकृति को देखकर राजा जनक के मन में यह अभिमान हुआ कि, यह ब्राह्मण अंत्यत ही कुरूप है । तब दूसरे के चित्त का वृत्तांत जाननेवाले अष्टावक्रजी राजा के मन का भी विचार दिव्यदृष्टि के द्वारा जानकर राजा जनक से बोले कि, हे राजन् ! देहदृष्टि को छोडकर यदि आत्मदृष्टि करोगे तो यह देह टेढा है परंतु इस में स्थित आत्मा टेढा नहीं है, जिस प्रकार नदी टेढी होती है परंतु उस का जल टेढा नहीं होता है, जिस प्रकार इक्षु (गन्ना) टेढा होता है परंतु उस का रस टेढा नहीं है। तिसी प्रकार यद्यपि पांचभौतिक यह देह टेढा है, परंतु अंतर्यामी आत्मा टेढा नहीं है। किंतु आत्मा असंग, निर्विकार, व्यापक, ज्ञानघन, सच्चिदानंदस्वरूप, अखंड, अच्छेद्य, अभेद्य, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वभाव है, इस कारण हे राजन् ! तुम देहदृष्टि को त्यागकर आत्मदृष्टि करो । परम दयालु अष्टावक्रजी के इस प्रकार के वचन सुनने से राजा जनक का मोह तत्काल दूर

हो गया और राजा जनकने मन में विचार किया कि मेरे सब मनोरथ सिद्ध हो गये, में अब इनको ही गुरु करूंगा। क्योंकि यह महात्मा ब्रह्मविद्या के समुद्ररूप है, जीवन्मुक्त हैं, अब इन से अधिक ज्ञानी मुझे कौन मिलेगा? अब तो इन से ही गुरुदीक्षा लेकर इनको ही शरण लेना योग्य है, इस प्रकार विचारकर राजा जनक अष्टावक्रजी से इस प्रकार बोले कि, हे महात्मन् ! मैं संसारबंधन से छूटने के निमित्त आप की शरण लेने की इच्छा करता हूं, अष्टावक्रजीने भी राजा जनक को अधिकारी समझकर अपना शिष्य कर लिया, तब राजा जनक अपने चित्त के संदेहों को दूर करने के निमित्त और ब्रह्मविद्या के श्रवण करने की इच्छा कर के अष्टावक्रजी से पूंछने लगे। अष्टावक्रजी से राजा जनक प्रश्न करते हैं कि - हे प्रभो ! अविद्याकर के मोहित नाना प्रकार के मिथ्या संकल्प विकल्पोंकर के बारंबार जन्ममरणरूप दुःखों को भोगनेवाले इस पुरुष को अविद्यानिवृत्तिरूप ज्ञान किस प्रकार प्राप्त होता है ? इन तीनों प्रश्नों का उत्तर कृपा कर के मुझ से कहिये॥ १ ॥

अष्टावक्र उवाच।
मुक्तिमिच्छसिचेत्तात विषयान्विषवत्त्यज।
क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद्भज ॥२॥

अन्वयः- हे तात ! चेन् मुक्तिम् इच्छसि (तर्हि) विषयान् विषवत् (अवगत्य) त्यज । क्षमार्जवदयातोषसत्यम् पीयूषवत् (अवगत्य) भज ॥२॥

इस प्रकार जब राजा जनकने प्रश्न किया तब ज्ञानविज्ञानसंपन्न परम दयालु अष्टावक्रमुनिने विचार किया कि, यह पुरुष तो अधिकारी है और संसारबंधन से मुक्त होने की इच्छा से मेरे निकट आया है, इस कारण इस को साधनचतुष्टयपूर्वक ब्रह्मतत्व का उपदेश करूं क्योंकि साधनचतुष्टय के बिना कोटि उपाय करने से भी ब्रह्मविद्या फलीभूत नहीं होती है इस कारण शिष्य को प्रथम साधनचतुष्टय का उपदेश करना योग्य है और साधनचतुष्टय के अनंतर ही ब्रह्मज्ञान के विषय की इच्छा करनी चाहिये, इस प्रकार विचार कर अष्टावक्राजी बोले कि-हे तात ! हे शिष्य ! संपूर्ण अनर्थों की निवृत्ति और परमानंदमुक्ति की इच्छा जब होवे तब शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध इन पांचों विषयों को त्याग देवे । ये पांच विषय कर्ण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासि का इन पांच ज्ञानेंद्रियों के हैं, ये संपूर्ण जीव के बंधन हैं, इन से बंधा हुआ जीव उत्पन्न होता है और मरता है तब बड़ा दुःखी होता है, जिस प्रकार विष भक्षण करनेवाले पुरुष को दुःख होता है, उसी प्रकार शब्दादिविषयभोग करने वाला पुरुष दुःखी होता है। अर्थात् शब्दादि विषय महा अनर्थ का मूल है उन विषयों को तू त्याग दे। अभिप्राय यह है कि, देह आदि के विषय में मैं हूं, मेरा

है इत्यादि अध्यास मत कर इस प्रकार बाह्य इंद्रियों को दमन करने का उपदेश किया. जो पुरुष इस प्रकार करता है उस को 'दम' नामवाले प्रथम साधन की प्राप्ति होती है और जो अंतःकरण को वश में कर लेता है उस को 'शम' नामवाली दूसरी साधनसंपत्ति की प्राप्ति होती है। जिस का मन अपने वश में हो जाता है उस का एक ब्रह्माकार मन हो जाता है, उस का नाम वेदांतशास्त्र में निर्विकल्पक समाधि कहा है, उस निर्विकल्पक समाधि की स्थिति के अर्थ क्षमा (सब सह लेना), आर्जव (अविद्यारूप दोष से निवृत्ति रखना), दया (बिना कारण ही पराया दुःख दूर करने की इच्छा), तोष (सदा संतुष्ट रहना), सत्य (त्रिकाल में एकरूपता) इन पांच सात्विक गुणों का सेवन करे। जिस प्रकार कोई पुरुष अमृततुल्य औषधि सेवन करे और उस औषधि के प्रभाव से उस के संपूर्ण रोग दूर हो जाते हैं, उसी प्रकार जो पुरुष अमृततुल्य इन पांच गुणों को सेवन करता है, उस के जन्ममृत्युरूप रोग दूर हो जाते हैं अर्थात इस संसार के विषय में जिस पुरुष को मुक्ति की इच्छा होय वह विषयों का त्याग कर देवे, विषयों का त्याग करे बिना मुक्ति कदापि नहीं होती है, मुक्ति अनेक दुःखों की दूर करनेवाली और परमानंद की देनेवाली है इस प्रकार अष्टावक्रमुनिने प्रथम शिष्य को विषयों को त्यागने का उपदेश दिया ॥२॥

न पृथ्वी न जलं नाग्निर्न वायुर्द्यौर्न वा भवान् ।
एषां साक्षिणमात्मानं चिद्रूपं विद्धि मुक्तये ॥३॥

अन्वयः- (हे शिष्य !) भवान् पृथ्वी न । जलम् न। अग्निः न । वायुः न । वा द्यौः न । एषाम् साक्षिणम् चिद्रूपम् आत्मानम् मुक्तये विद्धि ॥३॥

अब मुनि साधनचतुष्टयसंपन्न शिष्य को मुक्ति का उपदेश करते हैं, तहां शिष्य शंका करता है कि, हे गुरो ! पंच भूत का शरीर ही आत्मा है और पंचभूतोंके ही पांच विषय हैं, सो इन पंचभूतों का जो स्वभाव है उस का कदापि त्याग नहीं हो सकता, क्योंकि पृथ्वी से गंध का या गंध से पृथ्वी का कदापि वियोग नहीं हो सकता है, किंतु वे दोनों एकरूप होकर रहते हैं, इसी प्रकार रस और जल, अग्नि और रूप, वायु और स्पर्श, शब्द और आकाश है, अर्थात् शब्दादि पांच विषयों का त्याग तो तब हो सकता है जब पंच भूतों का त्याग होता है और यदि पंच भूत का त्याग होय तो शरीरपात हो जावेगा फिर उपदेश ग्रहण करनेवाला कौन रहेगा ? तथा मुक्तिसुख को कौन भोगेगा ? अर्थात् विषय का त्याग तो कदापि नहीं हो सकता इस शंका को निवारण करने के अर्थ अष्टावक्रजी उत्तर देते हैं-हे शिष्य ! पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश तथा इन के धर्म जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध सो तू नहीं है इस पांचभौतिक शरीर के विषय में तू अज्ञान से अहम्भाव (मैं हूं, मेरा

है इत्यादि) मानता है इन का त्याग कर अर्थात् इस शरीर के अभिमान का त्याग कर दे और विषयों को अनात्मधर्म जानकर त्याग कर दे। अब शिष्य इस विषय में फिर शंका करता है कि, हे गुरो ! मैं गौरवर्ण हूं, स्थूल हूं कृष्णवर्ण हूं, रूपवान हूं, पुष्ट हूं, कुरूप हूं, काणा हूं, नीच हूं, इस प्रकार की प्रतीति इस पांचभौतिक शरीर में अनादि काल से सब ही पुरुषों को हो जाती है, फिर तुमने जो कहा कि, तू देह नहीं है सो इस में क्या युक्ति है ? तब अष्टावक्र बोले कि, हे शिष्य ! अविवे की पुरुष को इस प्रकार प्रतीति होती है, विवेकदृष्टि से तू देह इंद्रयादि का द्रष्टा और देह इंद्रियादि से पृथक है। जिस प्रकार घट को देखनेवाला पुरुष घट से पृथक होता है, उसी प्रकार आत्माको भी सर्व दोषरहित और सब का साक्षी जान . इस विषय में न्यायशास्त्रवालों की शंका है, कि, साक्षिपना तो बुद्धि में रहता है, इस कारण बुद्धि ही आत्मा हो जायगी, इस का समाधान यह है कि, बुद्धि तो जड है और आत्मा चेतन माना है, इस कारण जड जो बुद्धि सो आत्मा नहीं हो सकता है, तो आत्मा को चैतन्यस्वरूप जान तहां शिष्य प्रश्न करता है कि, हे गुरो ! चैतन्यरूप आत्मा के जानने से क्या फल होता है सो कहिये ? तिस के उत्तर में अष्टावक्रजी कहते हैं कि, साक्षी और चैतन्य जो आत्मा तिस को जानने से पुरुष जीवन्मुक्तपद को प्राप्त होता है, य ही आत्मज्ञान का फल है, मुक्ति का स्वरूप किसी के विचार में नहीं आया है, षटशास्त्रकार अपनी २ बुद्धि के अनुसार मुक्ति के स्वरूप की कल्पना करते हैं। न्यायशास्त्रवाले इस प्रकार कहते हैं कि, दुःखमात्र का जो अत्यंत नाश है वही मुक्ति है और बलवान् प्रभाकरमतावलंबी मीमांसकों का यह कथन है कि, समस्त दुःखों का उत्पन्न होने से पहिले जो सुख है वही मुक्ति है, बौधमतवालों का यह कथन है कि, देह का नाश होना ही मुक्ति है, इस प्रकार भिन्न २ कल्पना करते हैं, परंतु यथार्थ बोध नहीं होता है, किंतु वेदांतशास्त्र के अनुसार आत्मज्ञान ही मुक्ति है इस कारण अष्टावक्रमुनि शिष्य को उपदेश करते हैं। ॥ ३ ॥

यदि देहं पृथक्कृत्य चिति विश्राम्य तिष्ठसि ।
अधुनैव सुखी शान्तो बंधमुक्तो भविष्यसि ॥ ४ ॥

अन्वय:- (हे शिष्य !) यदि देहम् पृथक्कृत्य चिति विश्राम्य . तिष्ठसि (तर्हि) अधुना एंव सुखी शान्तः बन्धमुक्तः भविष्यसि ॥ ४ ॥

हे शिष्य ! यदि तू देह तथा आत्मा का विवेक कर के अलग जानेगाऔर आत्मा के विषय में विश्राम कर के चित को एकाग्र करेगा तो तू इस वर्तमान ही मनुष्यदेह के विषय में सुख तथा शान्ति को प्राप्त होगा अर्थात् बंधमुक्त कहिये कर्तृत्व (कर्तापना) भोक्तृत्व (भोक्तापना) आदि अनेक अनर्थों से छूट जावेगा॥ ४ ॥

न त्वं विप्रादि को वर्णों नाश्रमी नाक्षगोचरः।
असंगोसि निराकारो विश्वसाक्षी सुखी भव ॥५॥

अन्वय:- त्वम् विप्रादिकः वर्णः न आश्रमी न अक्षगोचरः न (किन्तु, त्वम्) असंगः निराकारः विश्वसाक्षी असि (अतः कर्मासक्तिम् विहाय चिति विश्राम्य) सुखी भव ॥५॥

शिष्य प्रश्न करता है कि, हे गुरो ! मैं तो वर्णाश्रम के धर्म में हूं इस कारण मुझे वर्णाश्रम कर्म का करना योग्य है, अर्थात् वर्णाश्रम के कर्म करने से आत्मा के विषय में विश्राम कर के मुक्ति किस प्रकार होगी ? तब तिस का गुरु समाधान करते हैं कि, तू ब्राह्मण आदि नहीं है, तूब्रह्मचारी आदि किसी आश्रम में नहीं है। तहाँ शिष्य प्रश्न करता है कि, मैं ब्राह्मण हूं, मैं संन्यासी हूं इत्यादि प्रत्यक्ष है, इस कारण आत्मा ही वर्णश्रमी है। तहां गुरु समाधान करते हैं कि, आत्मा का इंद्रिय तथा अंतःकरण कर के प्रत्यक्ष नहीं होता है और जिस का प्रत्यक्ष होता है वह देह है, तहां शिष्य फिर प्रश्न करता है कि, मैं क्या वस्तु हूं ? तहां गुरुसमाधान करते हैं कि, तू असंग अर्थात् देहादिक उपाधि यथा आकाररहित विश्व का साक्षी आत्मस्वरूप है, अर्थात् तुझ में वर्णाश्रमपना नहीं है, इस कारण कर्मों के विषय में आसक्ति न कर के चैतन्यरूप आत्मा के विषय में विश्राम कर के परमानंद को प्राप्त हो ॥५॥

धर्माधर्मौ सुखं दुःखं मानसानि न ते विभो।
न कर्तासि न भोक्तासि मुक्त एवासि सर्वदा ॥ ६ ॥

अन्वय:- हे विभो ! धर्माधर्मौ सुखम् दुःखम् मानसानि ते न (त्वम्) कर्ता न असि भोक्ता न असि (किन्तु) सर्वदा मुक्त एव असि ॥ ६ ॥

तहां शिष्य प्रश्न करता है कि, वेदोक्त वर्णाश्रम के कर्मों को त्यागकर आत्मा के विषें विश्राम करनेमें भी तो अधर्मरूप प्रत्यवाय होता है, तिस का गुरु समाधान करते हैं कि, हे शिष्य ! धर्म, अधर्म, सुख और दुःख यह तो मन का संकल्प है. तिस कारण तिन धर्माधमादि के साथ तेरा त्रिकालमें भी संबंध नहीं है। तू कर्ता नहीं है, तू भोक्ता नहीं है, क्योंकि विहित अथवा निषिद्ध कर्म करता है वही सुख दुःख का भोक्ता है । सो तुझ में नहीं है क्योंकि तूं तो शुद्धस्वरूप है, और सर्वदा कालमुक्त है । अज्ञान कर के भासनेवाले सुख दुःख आत्मा के विषें आश्रय करके ही निवृत्त हो जाते हैं ॥६॥

ए को द्रष्टासि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा।

अयमेव हिते बन्धो द्रष्टारं पश्यसीतरम् ॥७॥

अन्वयः- (हे शिष्य ! त्वम्) सर्वस्य द्रष्टा एकः असि सर्वदा मुक्तप्रायः असि हि ते अयम् एव बन्धः (यम्) द्रष्टारम् इतरम् पश्यसि ॥७॥

तहां शिष्य प्रश्न करता है कि, शुद्ध, एक, नित्य मुक्त ऐसा जो आत्मा है तिस का बंधन किस निमित्त से होता है कि, जिस बंधन के छुटान के अर्थ बडे २ योगी पुरुष यत्न करते हैं ? तहां गुरु समाधान करते हैं कि, हे शिष्य ! तू अद्वितीय सर्वसाक्षी सर्वदा मुक्त है, तू जो द्रष्टा को द्रष्टा न जानकर अन्य जानता है य ही बंधन है । सर्व प्राणियों में विद्यमान आत्मा एक ही है और अभिमानी जीव के जन्मजन्मांतर ग्रहण करनेपर भी आत्मा सर्वदा मुक्त है । तहां शिष्य प्रश्न करता है कि, फिर संसारबंध क्या वस्तु है ? तिस का गुरु समाधान करते हैं कि, यह प्रत्यक्ष देहाभिमान ही संसारबंधन है अर्थात् यह कार्य करता हूं, यह भोग करता हूं इत्यादि ज्ञान ही संसारबंधन है, वास्तव में आत्मा निर्लेप है, तथापि देह और मन के भोग को आत्मा का भोग मानकर बद्धसा हो जाता है ॥७॥

अहं कर्तैत्यहमानमहाकृष्णाहिदंशितः।
नाहं कर्तैति विश्वासामृतं पीत्वा सुखी भव॥८॥

अन्वयः- (हे शिष्य !) अहम् कर्ता इति अहंमानमहाकृष्णाहिंदंशितः (त्वम्) अहं कर्ता न इति विश्वासामृतम् पीत्वा सुखी भव ॥८॥

यहांतक बंधहेतु का वर्णन किया अब अनर्थ के हेतु का वर्णन करते हुए अनर्थ की निवृत्ति और परमानंद के उपाय का वर्णन करते हैं। मैं कर्ता हूं' इस प्रकार अहंकाररूप महाकाल सर्प से तू काटा हुआ है इस कारण मैं कर्ता नहीं हूं इस प्रकार विश्वासरूप अमृत पीकर सुखी हो । आत्माभिमानरूप सर्प के विष से ज्ञानरहित और जर्जरीभूत हआ है, यह बंधन जितने दिनोंतक रहेगा तबतक किसी प्रकार सुख की प्राप्ति नहीं होगी; जिस दिन यह जानेगा कि, मैं देहादि कोई वस्तु नहीं हूं, मैं निर्लिप्त हूं उस दिन किसी प्रकार का मोह स्पर्श नहीं कर सकेगा ॥८॥

ए को विशुद्धबोधोऽहमिति निश्चयवह्निना।
प्रज्वाल्याज्ञानगहनं वीतशोकःसुखी भव॥९॥

अन्वयः- (हे शिष्य !) अहम् विशुद्धबोधः एकः (अस्मि) इति निश्चयवह्निना अज्ञानगहनम् प्रज्वाल्य वीतशोकः (सन) सुखी भव ॥९॥

तहां शिष्य प्रश्न करता है कि, आत्मज्ञानरूपी अमृत पान किस प्रकार करूं ? तहां गुरु समाधान करते हैं कि हे शिष्य ! मैं एक हूं अर्थात् मेरे विषें सजाति विजाति का भेद नहीं है और स्वगतभेद भी नहीं है, केवल एक विशुद्धबोध और स्वप्रकाशरूप हूं, निश्चयरूपी अग्नि से अज्ञानरूपी वन का भस्म कर के शोक, मोह, राग, द्वेष, प्रवृत्ति, जन्म, मृत्यु इन के नाश होनेपर शोकरहित होकर परमानंद को प्राप्त हो ॥९॥

यत्र विश्वमिदं भाति कल्पितं रज्जुसर्पवत् ।
आनन्दपरमानन्दः स बोधस्त्वं सुखंचर ॥ १० ॥

अन्वयः- यत्र इदम् विश्वम् रज्जुसर्पवत् कल्पितम् भाति सः आनन्दपरमानन्दः बोधः त्वम् सुखम् चर ॥ १० ॥

तहां शिष्य शंका करता है कि, आत्मज्ञान से अज्ञानरूपी वन के भस्म होनेपर भी सत्यरूप संसार की ज्ञान से निवृत्ति न होने के कारण शोकरहित किस प्रकार होऊंगा ? तब गुरु समाधान करते हैं कि, हे शिष्य ! जिस प्रकार रज्जु के विषें सर्प की प्रतीति होती है और उस का भ्रम प्रकाश होने से निवृत्ति हो जाती है, तिस प्रकार ब्रह्म के विषें जगत् की प्रतीति अज्ञानकल्पित है ज्ञान होने से नष्ट हो जाती है। तू ज्ञानरूप चैतन्य आत्मा है, इस कारण सुखपूर्वक विचर । जिस प्रकार स्वप्न में किसी पुरुष को सिंह मारता है तो वह बड़ा दुःखी होता है परंतु निद्रा के दूर होनेपर उस कल्पित दुःख का जिस प्रकार नाश हो जाता है तिस प्रकार तू ज्ञान से अज्ञान का नाश कर के सुखी हो । तहां शिष्य प्रश्न करता है, कि, हे गुरो ! दुःखरूप जगत् अज्ञान से प्रतीत होता है और ज्ञान से उस का नाश हो जाता है परंतु सुख किस प्रकार प्राप्त होता है ? तब गुरु समाधान करते हैं कि हे शिष्य ! जब दुःखरूपी संसार के नाश होनेपर आत्मा स्वभाव से ही आनंदस्वरूप हो जाता है, मनुष्यलोक से तथा देवलोक से आत्मा का आनंद परम उत्कृष्ट और और अत्यंत अधिक है श्रुतिमें भी कहा है, "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रमुपजीवन्ति " इति॥ १०॥

मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि ।
किंवदंतीहसत्येयं या मतिःसा गतिर्भवेत् ॥ ११ ॥

अन्वयः- इह मुक्ताभिमानी मुक्तः अपि बद्धाभिमानी बद्धः हि या मतिः सा गतिः भवेत् इयम् किंवन्दती सत्या ॥ ११ ॥

शिष्य शंका करता है कि, यदि संपूर्ण संसार रज्जु के विषय में सर्प की समान कल्पित है, वास्तव में आत्मा परमानंदस्वरूप है तो बंध मोक्ष किस प्रकार होता है ? तहां गुरु समाधान करते हैं कि, हे शिष्य ! जिस पुरुष को गुरु की कृपा से यह निश्चय हो जाता है कि, मैं मुक्तरूप हूं वही मुक्त है और जिस के ऊपर सद्गुरु की कृपा नहीं होती है और वह यह जानता है कि, मैं अल्पज्ञ जीव और संसारबंधन में बंधा हुआ हूं वही बद्ध है, क्योंकि बन्ध और मोक्ष अभिमान से ही उत्पन्न होते है अर्थात् मरणसमय में जैसा अभिमान होता है वैसी ही गति होती है यह बात श्रुति, स्मृति, पुराण और ज्ञानी पुरुष प्रमाण मानते हैं कि, "मरणे या मतिः सा गतिः" सोई गीतामें भी कहा है कि, " यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यंते कलेवरम् । तं तमेवैति कौंतेय सदा तद्भावभावितः ॥" इस का अभिप्राय यह है कि, श्रीकृष्णजी उपदेश करते हैं कि, हे अर्जुन ! अन्तसमय में जिस २ भाव को स्मरण करता हुआ पुरुष शरीर को त्यागता है तस २ भावना से तिस २ गतिको ही प्राप्त होता है। श्रुतिमें भी कहा है कि " तं विद्याकर्मणी समारभेते पूर्वप्रज्ञा च" इस का भी य ही अभिप्राय है और बंध तथा मोक्ष अभिमान से होते हैं वास्तव में नहीं. यह वार्ता पहले कह आये हैं तो भी दूसरी बार शिष्य को बोध होने के अर्थ कहा है इस कारण कोई दोष नहीं है क्योंकि आत्मज्ञान अत्यंत कठिन है ॥११॥

आत्मा साक्षी विभुःपूर्णए को मुक्तश्चिदक्रियः ।
असंगोनिःस्पृहः शान्तोभ्रमात्संसारवानिव॥१२॥

अन्वयः- साक्षी विभुः पूर्णः एकः मुक्तः चित् अक्रियः असङ्गः निःस्पृहः शान्तः आत्मा भ्रमात् संसारवान इव (भाति)॥१२॥

जीवात्मा के बंध और मोक्ष पारमार्थिक हैं इस तार्किक की शंका को दूर करने के निमित्त कहते हैं कि, अज्ञान से देह को आत्मा माना है तिस कारण वह संसारी प्रतीत होता है परंतु वास्तव में आत्मा संसारी नहीं है, क्योंकि आत्मा तो साक्षी है और अहंकारादि अंतःकरण के धर्म को जाननेवाला है और विभु अर्थात् नाना प्रकार का संसार जिस से उत्पन्न हुआ है, सर्व का अनुष्ठान है, संपूर्ण व्यापक है, एक अर्थात् स्वगतादिक तीन भेदों से रहित है, मुक्त अर्थात् माया का कार्य जो संसार तिस के बंधन से रहित, चैतन्यरूप, अक्रिय, असंग, निस्पृह अर्थात् विषय की इच्छा से रहित है और शान्त अर्थात् प्रवृत्तिनिवृत्तिरहित है इस कारण वास्तव में आत्मा संसारी नहीं है ॥ १२॥

कूटस्थं बोधमद्वैतमात्मानं परिभावय ।

अभासोहंभ्रमंमुक्त्वाभावंबाह्यमथांतरम् ॥ १३ ॥

अन्वयः- अभासः अहम् (इति) भ्रमम् अथ बाह्यम् अन्तरम् भावम् मुक्त्वा आत्मानम् कूटस्थम् बोधम् अद्वैतम् परिभावय ॥ १३ ॥

मैं देहरूप हूं, स्त्री पुत्रादिक मेरे हैं, मैं सुखी हूं, दुःखी हूं यह अनादि काल का अज्ञान एक बार आत्मज्ञान के उपदेश से निवृत्त नहीं हो सकता है। व्यासजीने भी कहा है "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" "श्रोतव्यमंतव्य" ॥ इत्यादि श्रुति के विषय में बारंबार उपदेश किया है, इस कारण श्रवण मननादि बारंबार करने चाहिये, इस प्रमाण के अनुसार अष्टावकमुनि उत्सित वासनाओं का त्याग करते हुए बारंबार अद्वैत भावना का उपदेश करते हैं कि, मैं अहंकार नहीं हूं, मैं देह नहीं हूं, स्त्रीपुत्रादिक मेरे नहीं हैं, मैं सुखी नहीं हूं, दुःखी नहीं हूं, मूढ नहीं हूं इन बाह्य और अंतर को भावनाओं का त्याग कर के कूटस्थ अर्थात् निर्विकार बोधरूप अद्वैत आत्मस्वरूप का विचार कर ॥१३॥

देहाभिमानपाशेन चिरंबद्धोऽसि पुत्रक।
बोधोऽहं ज्ञानखड्गेन तन्निः कृत्य सुखी भव॥१४॥

अन्वयः- हे पुत्रक ! देहाभिमानपाशेन चिरम् बद्धः असि (अतः) अहम् बोधः (इति) ज्ञानखड्गेन तम् निःकृत्य सुखी भव ॥ १४ ॥

अनादि काल का यह देहाभिमान एक बार उपदेश करने से निवृत्त नहीं होता है इस कारण गुरु उपदेश करते हैं कि, हे शिष्य ! अनादिकाल से इस समयतक देहाभिमानरूपी फाँसी से तू दृढ बंधा हुआहै, अनेक जन्मोंमें भी उस बंधन के काटने को तू समर्थ नहीं होगा इस कारण, शुद्ध विचार बारंबार कर के 'मैं बोधरूप' अखंड परिपूर्ण आत्मरूप हूं, इस ज्ञानरूपी खड्ग को हाथ में लेकर उस फाँसी को काटकर सुखी हो ॥१४॥

निःसंगो निष्क्रियोऽसि तं स्वप्रकाशो निरंजनः ।
अयमेव हि ते बन्धः समाधिमनुतिष्ठसि ॥१५॥

अन्वयः- (हे शिष्य !) त्वम् (वस्तुतः) स्वप्रकाशः निरंजनः निःसंगः निष्क्रियः असि (तथापि) हि ते बन्धः अयम् एव (यत्) समाधिम् अनुतिष्ठसि ॥ १५ ॥

केवल चित्त की वृत्ति का निरोधरूप समाधि ही बंधन की निवृत्ति का हेतु है इस पातंजलमत का खंडन करते हैं कि, पातंजलयोगशास्त्र में वर्णन किया है कि, जिस के अंतःकरण की वृत्ति विराम को प्राप्त हो जाती है उस का मोक्ष होता है सो यह

बात कल्पनामात्र ही है अर्थात् तू अंतःकरण की वृत्ति को जीतकर सविकल्पक हठसमाधि मत कर क्योंकि तू निःसंग क्रियारहित स्वप्रकाश और निर्मल है इस कारण सविकल्प हठसमाधि का अनुष्ठान भी तेरा बंधन है, आत्मा सदा शुद्ध मुक्त है तिस कारण भ्रांतियुक्त जीव के चित्त को स्थिर करने के निमित्त समाधि का अनुष्ठान करने से आत्मा की हानि वृद्धि कुछ नहीं होती है जिस को सिद्धि लाभ अर्थात् आत्मज्ञान हो जाता है उस को अन्य समाधिक अनुष्ठान से क्या प्रयोजन है ? इस कारण ही राजा जनक के प्रति अष्टावक वर्णन करते हैं कि, तू जो समाधि का अनुष्ठान करता है य ही तेरा बंधन है, परंतु आत्मज्ञानविहीन पुरुष को ज्ञानप्राप्ति के निमित्त समाधि का अनुष्ठान करना आवश्यक है ॥ १५॥

त्वया व्याप्तमिदं विश्वं त्वयि प्रोतं यथार्थतः ।
शुद्धबुद्धस्वरूपस्त्वं मा गमःक्षुद्रचित्तताम्॥ १६ ॥

अन्वयः- (हे शिष्य !) इदम् विश्वम् त्वया व्याप्तम् त्वयि प्रोतम् यथार्थतः शुद्धबुद्ध स्वरूपः त्वम् क्षुद्रचित्तताम् मा गमः ॥ १६ ॥

अब शिष्य की विपरीत बुद्धि को निवारण करने के निमित्त गुरु उपदेश करते हैं कि, हे शिष्य ! जिस प्रकार सुवर्ण के कटक कुंडल आदि सुवर्ण से व्याप्त होते हैं इसी प्रकार यह दृश्यमान संसार तुझ से व्याप्त है और जिस प्रकार मृत्तिका के विषय में घट शराव आदि किया हुआ होता है तिसी प्रकार यह संपूर्ण संसार तेरे विषय में प्रोत है, हे शिष्य ! यथार्थ विचार कर के तू सर्व प्रपंचरहित है तथा शुद्ध बुद्ध चिद्रूप है, तू चित्त की वृत्ति को विपरीत मत कर ॥ १६ ॥

निरपेक्षो निर्विकारो निर्भरः शीतलाशयः।
अगाधबुद्धिरक्षुब्धो भव चिन्मात्रवासनः ॥ १७॥

अन्वयः- (हे शिष्य ! त्वम्) निरपेक्षः निर्विकारः निर्भरः शीतलाशयः अगाधबुद्धिः अक्षुब्धः चिन्मात्रवासनो भव ॥ १७॥

इस देह के विषय में छः उर्मी तथा छः भावविकार प्रतीत होते हैं सो तू नहीं है किन्तु उन से भिन्न और निरपेक्ष अर्थात् इच्छारहित है, तहां शिष्य आशंका करता है कि, हे गुरो! छः उर्मी और छः भावविकारों को विस्तारपूर्वक वर्णन करो तहां गुरु वर्णन करते हैं कि, हे शिष्य ! क्षुधा, पिपासा (भूख प्यास) ये दो प्राण की ऊर्मी अर्थात् धर्म हैं और तिसी प्रकार शोक तथा मोह ये दो मन की ऊर्मी हैं. तिसी प्रकार जन्म और मरण ये दो देह की ऊर्मी हैं, ये जो छः ऊर्मी हैं सो तू नहीं है अब छः भावविकारों को श्रवण कर "जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति" ये छः

भाव स्थूलदेह के विषें रहते हैं सो तू नहीं है तू तो उन का साक्षी अर्थात् जाननेवाला है, तहां शिष्य प्रश्न करता है कि, हे गुरो ! मैं कौन और क्या हूं सो कृपा कर के कहिये. तहां गुरु कहते हैं कि, हे शिष्य ! तू निर्भर अर्थात् सच्चिदानंदघनरूप है, शीतल अर्थात् सुखरूप है, तू अगाधबुद्धि अर्थात् जिस की बुद्धि का कोई पार न पास के ऐसा है और अक्षुब्ध कहिये क्षोभरहित है इस कारण तू क्रिया का त्याग कर के चैतन्यरूप हो ॥ १७॥

साकारमनृतं विद्धि निराकारंतु निश्चलम्।
एतत्तत्वोपदेशेन न पुनर्भवसम्भवः॥ १८॥

अन्वयः- (हे शिष्य !) साकारम् अनृतम् निराकार तु निश्चलम् विद्धि एतत्तत्त्वोपदेशेन पुनर्भव सम्भवः न ॥ १८॥

श्रीगुरु अष्टावक्रमुनिने प्रथम एक श्लोक में मोक्ष का विषय दिखाया था कि, "विषयान् विषवत्त्यज" और "सत्यं पीयूषवद्भज" इस प्रकार प्रथम श्लोक में सब उपदेश दिया। परंतु विषयों के विषतुल्य होने में और सत्यरूप आत्मा के अमृततुल्य होने में कोई हेतु वर्णन नहीं किया सो १७ वें श्लोक के विषय में इस का वर्णन कर के आत्मा को सत्य और जगत् को अध्यस्त वर्णन किया है. दर्पण के विषें दीखता हुआ प्रतिबिम्ब अध्यस्त है, यह देखने मात्र होता है सत्य नहीं, क्योंकि दर्पण के देखने से जो पुरुष होता है उस का शुद्ध प्रतिबिंब दीखता है और दर्पण के हटान से यह प्रतिबिंब पुरुष में लीन हो जाता है इस कारण आत्मा सत्य है और उस का जो जगत् वह बुद्धियोग से भासता है तिस जगत् को विषतुल्य जान और आत्मा को सत्य जान तब मोक्षरूप पुरुषार्थ सिद्ध होगा इस कारण अब तीन श्लोकों से जगत् का मिथ्यात्व वर्णन करते हैं कि-हे शिष्य ! साकार जो देह तिस को आदि ले संपूर्ण पदार्थ मिथ्या कल्पित हैं और निराकार जो आत्मतत्त्व सो निश्चल है और त्रिकाल में सत्य है, श्रुतिमें भी कहा है " नित्यं विज्ञानमानंदं ब्रह्म " इस कारण चिन्मात्ररूप तत्व के उपदेश से आत्मा के विषें विश्राम करने से फिर संसार में जन्म नहीं होता है अर्थात् मोक्ष हो जाता है ॥ १८॥

यथैवादर्शमध्यस्थे रूपेऽन्तः परितस्तु सः ।
तथैवास्मिन्शरीरेऽन्तः परितः परमेश्वरः१९॥

अन्वयः- यथा एव आदर्शमध्यस्थे रूपे अन्तः परितः तु सः (व्याप्य वर्त्तते) तथा एव अस्मिन् शरीरे अन्तः परितः परमेश्वरः (व्याप्य स्थितः)॥ १९॥

अब गुरु अष्टावक्रजी वर्णाश्रमधर्मवाला जो स्थूल शरीर है तिस से और पुण्यअपुण्यधर्मवाला जो लिङ्गशरीर है तिस से विलक्षण परिपूर्ण चैतन्यस्वरूप का दृष्टांतसहित उपदेश करते हैं कि, हे शिष्य ! वर्णाश्रमधमरूप स्थूलशरीर तथा पुण्यपापरूपी लिंगशरीर यह दोनों जड हैं सो आत्मा नहीं हो सकते हैं क्योंकि आत्मा तो व्यापक है इस विषय में दृष्टांत दिखाते हैं कि, जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिंब पडता है, उस दर्पण के भीतर और बाहर एक पुरुष व्यापक होता है। तिसी प्रकार इस स्थूल शरीर के विषें एक ही आत्मा व्याप रहा है सो कहा भी है "यत्र विश्वमिदं भाति कल्पितं रज्जु सर्पवत् " अर्थात् जिस परमात्मा के विषें यह विश्व रज्जु के विषें कल्पित सर्प की समान प्रतीत होता है, वास्त में मिथ्या है ॥ १९॥

एकं सर्वगतं व्योम बहिरंतर्यथा घटे।
नित्यं निरन्तरं ब्रह्म सर्वभूतगणे तथा॥२०॥

अन्वयः- यथा सर्वगतम् एकम् व्योम घटे बहिः अंतः वर्तते तथा नित्यम् ब्रह्म सर्वभूतगणे निरन्तरम् वर्तते ॥ २० ॥

ऊपर के श्लोक में कांच का दृष्टांत दिया है तिस में संशय होता है कि, कांच में देह पूर्णरीतिसे व्याप्त नहीं होता है तिसी प्रकार देह में कांच पूर्ण रीतिसे व्याप्त नहीं होती है कारण दूसरा दृष्टांत कहते हैं कि, जिस प्रकार आकाश है, वह घटादि संपूर्ण पदार्थों में व्याप रहा है, तिसी प्रकार अखंड अविनाशी ब्रह्म है वह संपूर्ण प्राणियों के विषें अंतर में तथा बाहर में व्याप रहा है, इस विषय में श्रुति का भी प्रमाण है, " एष त आत्मा सर्वस्यान्तरः" इस कारण ज्ञानरूपी खड़ को लेकर देहाभिमानरूपी फाँसी को काटकर सुखी हो ॥२०॥

इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां सान्वयभाषाटीकया सहितमात्मानुभवोपदेशवर्णनंनाम प्रथमं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १॥

=====

अथ द्वितीयं प्रकरणम् २.

अहो निरंजनः शान्तो बोधोऽहं प्रकृतेः परः।
एतावन्तमहं कालं मोहेनैव विडंबितः॥१॥

अन्वयः- अहो अहम् निरंजनः शान्तः प्रकृतेः परः बोधः (अस्मि) अहम् एतावंतम् कालम् मोहेन विडंबितः एव ॥१॥

श्रीगुरु के वचनरूपी अमृत पानकर तिस से आत्मा का अनुभव हुआ, इस कारण शिष्य अपने गुरु के प्रति आत्मानुभव कहता है कि, हे गुरो बड़ा आश्चर्य दीखने में आता है कि, मैं तो निरंजन हूं, तथा सर्वउपाधिरहित हूं, शान्त अर्थात् सर्वविकाररहित हूं तथा प्रकृतिसे परे अर्थात् माया के अंधकार से रहित हूं, अहो ! आज दिनपर्यंत गुरु की कृपा नहीं थी इस कारण बहुत मोह था और देह आत्मा का विवेक नहीं था तिस से दुःखी था अब आज सद्गुरु को कृपा हुई सो परम आनंद को प्राप्त हुआ हूं॥ १॥

यथा प्रकाशयाम्ये को देहमेनं तथा जगत् ।
अतोमम जगत् सर्वमथवा न च किंचन॥ २॥

अन्वयः- यथा (अहम्) एकः (एव) जगत् प्रकाशयामि तथा एनम देहम् (प्रकाशयामि) अतः सर्वम् जगत मम अथवा च किंचन न ॥ २॥

ऊपर के श्लोक में शिष्यने अपना मोह गुरु के पास वर्णन किया । अब गुरु को कृपा से देह आत्मा का विवेक प्राप्त हुआ तहां समाधान करता है कि, हे गुरो! मैं जिस प्रकार स्थूल शरीर को प्रकाश करता हूं तिस ही प्रकार जगत् को भी प्रकाश करता हूं, तिस कारण देह जड है तिस ही प्रकार जगत् भी जड है. यहां शंका होती है कि, शरीर जड और आत्मा चैतन्य है तिन दोनों का संबंध किस प्रकार होता है ? तिस का समाधान करते हैं कि, भ्रांतिसे देह के विषय में ममत्व माना है यह अज्ञानकल्पित है, देह को आदिलेकर बंधा जगत् दृश्य पदार्थ है, तिस कारण मेरे विषय में कल्पित है, फिर यदि सत्य विचार करे तो देहादिक जगत् है ही नहीं, जगत् की उत्पत्ति और प्रलय यह दोनों अज्ञानकल्पित हैं, तिस कारण देह से पर आत्मा शुद्ध स्वरूप है॥ २॥

सशरीरमहोविश्वं परित्यज्य मयाऽधुना।
कुतश्चित्कौशलादेवपरमात्माविलोक्यते॥ ३॥

अन्वयः- अहो अधुना सशरीरम् विश्वम् परित्यज्य कुतश्चित कौशलात् एव मया परमात्मा विलोक्यते ॥ ३॥

शिष्य आशंका करता है कि, लिंगशरीर और कारण शरीर इन दोनों का विवेक तौ हुआ ही नहीं फिर प्रकृतिसे पर आत्मा किस प्रकार जाना जायगा ? तहां गुरु समाधान करते हैं कि, लिंगशरीर, कारणशरीर, तथा स्थूलशरीर सहित संपूर्ण विश्व है तहां गुरु शास्त्र के उपदेश के अनुसार त्यागकर के और उन गुरु शास्त्र की कृपा

से चातुयता को प्राप्त हुआ हूं तिस कारण परम श्रेष्ठ आत्मा जानन में आता है अर्थात् अध्यात्म वेदान्तविद्या प्राप्त होती है ॥३॥

यथानतोयतोभिन्नास्तरङ्गाःफेनबुद्बुदाः ।
आत्मनोनतथाभिन्नविश्वमात्मविनिर्गतम् ॥ ४॥

२ अन्वयः- यथा तोयतः तरङ्गाः फेनवुद्बुदाः भिन्नाः न तथा आत्मविनिर्गतम् विश्वम् आत्मनः भिन्नम् न ॥ ४॥

शरीर तथा जगत् आत्मा से भिन्न होगा तो द्वैतभाव सिद्ध हो जायगा, ऐसी शिष्य की शंका करनेपर उस के उत्तर में दृष्टांत कहते हैं कि, जिस प्रकार तरंग, झाग बुलबुले जल से अलग नहीं होते हैं परंतु उन तीनों का कारण एक जलमात्र है तिस ही प्रकार त्रिगुणात्मक जगत् आत्मा से उत्पन्न हुआ है आत्मा से भिन्न नहीं है जिस प्रकार तरंग, झाग और बुलबुलों में जल व्याप्त है तिस ही प्रकार सर्व जगत् में आत्मा व्यापक है, आत्मा से भिन्न कुछ नहीं है ॥४॥

तंतुमात्रोभवेदेवपटोयद्विचारितः ।
आत्मतन्मात्रमेवेदंतद्विश्वविचारितम् ॥५॥

अन्वयः- यदत विचारितः पटः तंतुमात्रः एव भवेत् तद्वत् विचारितम् इदम् विश्वम् आत्मतन्मात्रम् एव ॥५॥

सर्व जगत् आत्मस्वरूप है तिस के निरूपण करने के अर्थ दूसरा दृष्टांत कहते हैं कि, विचारदृष्टि के बिना देखे तो वस्त्र सूत्र से पृथक् प्रतीत होता है, परंतु विचारदृष्टि से देखनेपर वस्त्र सूत्ररूप ही है, इसी प्रकार अज्ञानदृष्टि से जगत् ब्रह्म से भिन्न प्रतीत होता है, परंतु शुद्धविचारपूर्वक देखन से संपूर्ण जगत् आत्मरूपहीं है, सिद्धांत यह है कि, जिस प्रकार वस्त्र में सूत्र व्यापक है, तिसी प्रकार जगत् में ब्रह्म व्यापक है॥५॥

यथैवेक्षुरसेकॢप्तातेनव्याप्तवशकरा ॥ तथा
विश्वमयिकॢप्तमयाव्याप्तनिरन्तरम् ॥६॥

अन्वयः- यथा इक्षुर से क्लृप्ता शर्करा तेन एव व्याप्ता तथा एक मयि कॢप्तम् विश्वम् निरन्तरं मया व्याप्तम् ॥ ६ ॥

आत्मा संपूर्ण जगत् में व्यापक है इस विषय में तीसरा दृष्टांत दिखाते हैं, जिस प्रकार इक्षु (पौंडा) के रस के विषय में शर्करा रहती है और शर्करा के विषय में रस व्याप्त है, तिसी प्रकार परमानंदरूप आत्मा के विषय में जगत् अध्यस्त है और जगत के

विषय में निरंतर आत्मा व्याप्त है, तिस कारण विश्व भी आनंदस्वरूप ही है। तिस कर के "अस्ति, भाति, प्रियम्, " इस प्रकार आत्मा सर्वत्र व्याप्त है ॥६॥

आत्माज्ञानाजगद्भातिआत्मज्ञानानभासते।
रज्ज्वज्ञानादहिर्भातितज्ज्ञानाद्भासतेनहि ७॥

अन्वयः- जगत् आत्माज्ञानात् भाति आत्मज्ञानात् न भासते हि रज्ज्वज्ञानात् अहिः भाति तज्ज्ञानात् न भासते ॥ ७ ॥

शिष्य प्रश्न करता है कि, हे गुरो ! यदि जगत् आत्मा से भिन्न नहीं है तो भिन्न प्रतीत किस प्रकार होता है ? तहां गुरु उत्तर देते हैं कि, जब आत्मज्ञान नहीं होता है, तब जगत् भासता है और जब आत्मज्ञान हो जाता है, तब जगत् कोई वस्तु नहीं है, तहां दृष्टांत दिखाते हैं कि, जिस प्रकार अंधकार में पड़ी हुई रज्जु अम से सर्प प्रतीत होने लगता है और जब दीपक का प्रकाश होता है तब निश्चय हो जाता है कि, यह सर्प नहीं है ॥७॥

प्रकाशोमेनिजरूपनातिरिक्तोऽस्म्यहंततः।
यदाप्रकाशतेविश्वंतदाहंभासएवहि ॥८॥

अन्वयः- प्रकाशः मे निजम् रूपम् अहम् ततः अतिरिक्त न आस्मि । हि यदा विश्व प्रकाशते तदा अहं भासः एव ॥८॥

जिस को आत्मज्ञान नहीं होता है उस को प्रकाश भी नहीं होता है, फिर जगत् की प्रतीति किस प्रकार होती है ? इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं कि, नित्य बोधरूप प्रकाश मेरा (आत्मा का) स्वाभाविक स्वरूप है, इस कारण मैं (आत्मा) प्रकाश से भिन्न नहीं हूं, यहां शंका होती है कि, आत्मचैतन्य जब जगत् का प्रकाश है तो उस को अज्ञान किस प्रकार रहता है ? इस का समाधान यह है कि, जिस प्रकार स्वप्न में चैतन्य अविद्या की उपाधि से कल्पित विषयसुख को सत्य मानते हैं, तिस से चैतन्य में किसी प्रकार का बोध नहीं होता है, आत्मचैतन्य सर्वकाल में है परंतु गुरु के मुख से निश्चयपूर्वक समझे बिना अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है और आत्मा सत्य है यह वार्ता वेदादि शास्त्रसंमत है, अर्थात् जगत् को आत्मा प्रकाश करता है यह सिद्धांत है॥८॥

अहो विकल्पितं विश्वमज्ञानान्मयिभासते।
रूप्यं शुक्तौ फणी रज्जौ वारि सूर्यकरेयथा ॥९॥

अन्वयः- अहो यथा शुक्तौ रूप्यम् रजौ फणी सूर्यकरे वारि (तथा) अज्ञानात् विकल्पितम् विश्वम् मयि भासते ॥९॥

शिष्य विचार करता है कि, मैं स्वप्रकाश हूं तथापि अज्ञान से मेरे विषें विश्व भासता है, यह बड़ा ही आश्चर्य है, तिस का दृष्टांत के द्वारा समाधान करते हैं कि, जिस प्रकार भ्रांतिसे सीपी में रजत की प्रतीति होती है, जिस प्रकार रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है तथा जिस प्रकार सूर्य की किरणों में जल की प्रतीति होती है तिसी प्रकार अज्ञान से कल्पित विश्व मेरे विषेभासता है ॥९॥

मत्तो विनिर्गतं विश्वं मय्येव लयमेष्यति।
मृदि कुम्भोजले बीचिकनकेकटकं यथा ॥ १०॥

अन्वयः- इदम् विश्वं मत्तः विनिर्गतम् मयि एव लयम् एष्यति यथा कुम्भः मृदि वीचिः जले कटकम् कन के ॥ १०॥

शिष्य आशंका करता है कि, सांख्यशास्त्रवालों के मतानुसार तो जगत् माया का विकार है इस कारण जगत् मायासकाश से उत्पन्न होता है और अंत में माया के वि ही लीन हो जाता है और आत्मा सकाश से उत्पन्न नहीं होता है ? इस शंका का गुरु समाधान करते हैं कि, यह मायासहित जगत् आत्मा के सकाश से उत्पन्न हुआ है और अंत में माया के विष ही लीन होगा, तहां दृष्टांत देते हैं कि, जिस प्रकार घट मृत्तिका में से उत्पन्न होता है और अंत में मृत्तिका के विष ही लीन हो जाता है और जिस प्रकार तरंग जल में से उत्पन्न होते हैं और अंत में जल के वि ही लीन हो जाते हैं तथा जिस प्रकार कटक कुण्डलादि सुवर्णमे से उत्पन्न होते हैं और सुवर्णमें ही अंत में लीन हो जाते हैं। तिसी प्रकार मायासहित जगत आत्मा के सकाश से उत्पन्न होता है और अंत में माया के वि ही लीन हो जाता है, सोई श्रुतिमेभीकहा है "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति " ॥१०॥

अहो अहंनमो मह्यं विनाशीयस्य नास्तिमे।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तंजगन्नाशेपितिष्ठतः॥ ११॥

अन्वयः- अहो अहम् ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तम् (यत्) जगत् (तस्य) नाशे अपि यस्य मे विनाशः न अस्ति (तस्मै) मह्यम् नमः ॥ ११॥

शिष्य आशंका करता है कि, यदि जगत् का उपादान कारण ब्रह्म होगा तब तो ब्रह्म के विषें अनित्यता आवेगी, जिस प्रकार घट फूटता है और मृत्तिका बिखर जाती है, तिसी प्रकार जगत् के नष्ट होनेपर ब्रह्म भी छिन भिन्न (विनाशी) हो जायगा ? इस

शंका का समाधान करते हुए गुरु कहते हैं कि, मैं (आत्मा ब्रह्म) संपूर्ण उपादान कारण हूं, तो भी मेरा नाश नहीं होता है यह बड़ा आश्चर्य है. सुवर्ण कटक और कुण्डल का उपादान कारण होता है और कस्क कुंडल के टूटनेपर सुवर्ण विकार को प्राप्त होता है, परंतु मैं तो जगत् का विवर्ताविष्ठान हूं अर्थात् जिस प्रकार रज्जु में सर्प की भ्रांति होनेपर सर्प विवर्त कहाता है और रज्जु अधिष्ठान कहाता तिसी प्रकार जगत् मेरे (आत्माके) विषें प्रतीति मात्र है, जिस प्रकार दूध का दधि वास्तविक अन्यथाभाव (परिणाम) होता है, तिस प्रकार जगत् मेरा परिणाम नहीं है, मैं संपूर्ण जगत् का कारण और अविनाशी हूं, तिस कारण मैं अपने स्वरूप (आत्मा) को नमस्कार करता हूं। प्रलयकाल में ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यंत संपूर्ण जगत् नाश को प्राप्त हो जाता है परंतु मेरा (आत्माका) नाश नहीं होता है, इस विषय में श्रुति का भी प्रमाण है "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म " अर्थात् ब्रह्म सत्य है, ज्ञानरूप है और अनंत है ॥ ११ ॥

अहो अहंनमोमह्यमेकोऽहंदेहवानपिावचिन्न
गन्ता नागन्ता व्याप्य विश्वमवस्थितः ॥ १२ ॥

अन्वयः- अहो अहम् (तस्मै) मह्यम् नमः । (यत्) देहवान् अपि एकः अहम् विश्वम् व्याप्य अवस्थितः न ववित् गन्ता न आगन्ता ॥ १२ ॥

शिष्य आशंका करता है कि, सुखदुःखरूपी देहयुक्त आत्मा अनेकरूप है, तिस कारण जाता है और आता है, फिर आत्मा की सर्वव्यापकता किस प्रकार सिद्ध होगी, तिस का गुरु समाधान करते हैं कि, मैं बड़ा आश्चर्यरूप हूं उस कारण मैं अपने (आत्मा) को नमस्कार करता हूं। तहां शिष्य प्रश्न करता है कि, क्या आश्चर्य है ? तिसे गुरु उत्तर देते हैं कि, मैं (आत्मा) नाना प्रकार के शरीरों में निवास कर के नाना प्रकार के सुख दुःख को भोगता हूं, तथापि में एकरूप हूं, तहां दृष्टांत दिखाते हैं कि, जिस प्रकार जल से भरे हुए अनेक पात्रों में भरे हुए जल के विषें शीत, उष्ण सुगंध, दुर्गंध, शुद्ध, अशुद्ध इत्यादि अनेक उपाधियां रहती है और उन अनेकों पात्रों में भिन्न सूर्य के प्रतिबिंब पडते हैं, तथापि वह सूर्य एक ही होता है और जल की शीत उष्णादि उपाधियों से रहित होता है इसी प्रकार में संपूर्ण विश्व में व्याप रहा हूं, तथापि जगत् की संपूर्ण उपाधियों से रहित हूंअर्थात् न कोई जाता है न कोई आता है और जाता है आता है इस प्रकार की जो प्रतीति है सो अज्ञानवश है, वास्तव में नहीं है ॥ १२ ॥

अहोअहंनमोमह्यं दक्षोनास्तीहमत्समः ।

असंस्टश्यशरीरेणयेनविश्वंचिरंधृतम्॥ १३॥

अन्वय:- अहम् अहो (तस्म) मह्यम् नमः इह मत्तमः (कः अपि) दक्षः न अस्ति येन शरीरेण असंस्पृश्य (मया) चिरम् विश्वम् धृतम् ॥ १३ ॥

शिष्य शंका करता है कि, जिस आत्मा का देह से संग है, वह असंग किस प्रकार हो सकता है, तिस का गुरु समाधान करते हैं कि, मैं आश्चर्यरूप हूं इस कारण मेरे अर्थ नमस्कार है, क्योंकि इस जगत् में मेरी समान कोई चतुर नहीं है, अर्थात् अघट घटना करने में मैं चतुर हूं, क्योंकि में शरीर में रहकर भी शरीर से स्पर्श नहीं करता हूं और शरीरकार्य करता हूं जिस प्रकार आम धृत के पिंड में लीन न होकर भी घृतपिंड को गलाकर रसरूप कर देता है, उसी प्रकार संपूर्ण जगत् में मैं लीन नहीं होता हूं और संपूर्ण जगत् को चिरकाल धारण करता हूं ॥१३॥

अहोअनमोमायस्यमेनास्तिकिञ्चन।
अथवायस्यमसवैयद्राङ्मनसगोचरम् ॥ १४॥

अन्वय:- अहो अहम् यस्य मे (परमार्थतः) किञ्चन न अस्ति अथवा यत् वाङ्मनसगोचरम् (तत्) सर्वम् यस्य मे (सम्बधि अस्ति अतः) मह्यं नमः ॥ १४॥

शिष्य आशंका करता है कि, हे गुरो! संबंधक बिना जगत् किस प्रकार धारण होता है ? भीत गृह की छत आदि को धारण करती है परंतु काष्ठ आदि से उस का संबंध होता है, सो आत्मा बिना संबंध के जगत् को किस प्रकार धारण करता है इस का गुरु समाधान करते हैं कि, अहो मैं बड़ा आश्चर्यरूप हूं इस कारण अपने स्वरूप को नमस्कार करूं हूं, आश्चर्यरूपता दिखाते हैं कि, परमार्थदृष्टि से तो मेरा किसी से संबंध नहीं है, और विचारदृष्टि से देखो तो मुझ से भिन्न भी कोई नहीं है और यदि सांसारिकदृष्टि से देखो तो जो कुछ मन वाणी से विचारा जाता है वह सब मेरा संबंधी है परंतु वह मिथ्या संबंध है, जिस प्रकार सुवर्ण तथा कुंडल का संबंध है, इसी प्रकार मेरा और जगत् का संबंध है अर्थात् मेरा सब से संबंध है भी और नहींभो है, इस कारण आश्चर्यरूप जो मैं तिस मेरे अर्थ नमस्कार है ॥ १४॥

ज्ञानज्ञेयंतथाज्ञातात्रितयं नास्तिवास्तवम्।
अज्ञानाद्भातियत्रेदंसोऽहमस्मिनिरञ्जनः ॥१५॥

अन्वय:- ज्ञानम ज्ञेयम् तथा ज्ञाता (इदम्) त्रितयम् वास्तवम् न अस्ति यत्र इदम् अज्ञानात् भाति सः अहम् निरञ्जनः अस्मि॥ १५॥

त्रिपुटीरूप जगत् तो सत्यसा प्रतीत होता है फिर जगत् का और आत्मा का मिथ्या संबंध किस प्रकार कहा, इस शिष्य को शंका का गुरु समाधान करते हैं कि, ज्ञान ज्ञेय तथा ज्ञाता इन तीनों का इकट्ठा नाम "त्रिपुटी" है, वह त्रिपुटी वास्तविक अर्थात् सत्य नहीं है, तिस त्रिपुटी का जिस मेरे (आत्मा के) वि मिथ्या संबंध अर्थात् अज्ञान से प्रतीत है, वह मैं अर्थात् आत्मा तो निरंजन कहिये संपूर्ण प्रपंच से रहित हूं ॥ १५॥

द्वैतमूलमहोदुःखंनान्यत्तस्यास्तिभेषजम् ।
दृश्यमेतन्मृषासमेकोऽहंचिद्रसोऽमलः ॥ १६ ॥
अन्वयः- अहो (निरञ्जनस्य अपि आत्मनः) द्वैतमूलम् दुःखम् (भवति) तस्य भेषजम् एतत् दृश्यम् सर्वम् मृषा अहम् एकः अमलः चिद्रसः (इति बोवात्) अन्यत् न अस्ति ॥ १६ ॥

शिष्य शंका करता है कि यदि आत्मा निरंजन है तो दुःख का संबंध किस प्रकार होता है, तिस का गुरु समाधान करते हैं कि, सुखदुःख भ्रांतिमात्र है, वास्तविक नहीं, निरंजन आत्मा के विषें द्वैतमात्र से सुखदुःख भासता है वास्तव में आत्मा के विषें सुखदुःख कुछ भी नहीं होता है तहां शिष्य प्रश्न करता हे कि, हे गुरो! द्वैतभ्रम को औषधि कहिये जिस के सेवन करने से द्वैतभ्रम की निवृत्ति होती है ! तिस का गुरु उत्तर देते हैं कि, हे शिष्य ! मैं आत्मा हूं, अमल हूं, माया और माया का कार्य जो जगत् तिस से रहित चिन्मात्र अद्वितीयरूप हूं और दृश्यमान यह संपूर्ण संसार जड और मिथ्या है, सत्य नहीं है, ऐसा ज्ञान होने से द्वैतभ्रम नष्ट हो जाता है, इस के बिना दूसरी द्वैत भ्रम से उत्पन्न हुए दुःख के दूर करने की अन्य औषधि नहीं है ॥ १६ ॥

बोधमात्रोऽहमज्ञानाडुपाधिः कल्पितोमया।
एवंविमृशतोनित्यनिर्विकल्पेस्थितिर्मम ॥ १७ ॥
अन्वयः- अहम् बोधमात्रः मया अज्ञानात् उपाधिः कल्पितः एवम् नित्यम् विमृशतः मम निर्विकलो स्थितिः (प्रजाता) ॥ १७ ॥

शिष्य प्रश्न करता है कि, आत्मा के विषें द्वैतप्रपंच का अध्यास किस प्रकार हुआ है और वह कल्पित है या वास्तविक हे तिस का गुरु समाधान करते हैं कि, मैं बोधरूप चैतन्यस्वरूप हूं परंतु मैंने अपने विषें अज्ञान से उपाधि (अहंकारादि द्वैतप्रपंच) कल्पना किया है अर्थात् मैं अखंडानंदब्रह्म नहीं हूं किंतु देह हूं यह माना है. इस कारण नित्य विचार कर के मेरी निर्विकल्प अर्थात् वास्तविक निज स्वरूप (ब्रह्म)

के विषें स्थिति हुई है ॥ १७॥

नमेबन्धोऽस्ति मोक्षा वा भ्रान्तिःशान्ता निराश्रया ।
अहो मयि स्थितं विश्वं वस्तुतो न मयि स्थितम्॥१८॥

अन्वयः- मे बन्धः वा मोक्षः न अस्ति अहो मयि स्थितम् (अपि) विश्वं वस्तुतः मयि न स्थितम् (इति विचारतः अपि) निराश्रया भ्रान्तिः (एव) शान्ता ॥ १८॥

शिष्य शंका करता है, कि, हे गुरो ! यदि केवल विचार करने ही से मुक्ति होती है तब तो मुक्ति का विनाश होना चाहिये क्योंकि जब विचार नष्ट होता है तब मुक्ति का भी नाश होना चाहिये और यदि कहो कि विचार के बिना ही मुक्ति हो जाती है तब तो गुरु और शास्त्र के उपदेश को प्राप्त न होनेवाले पुरुषोंकी भी मुक्ति होना चाहिये ? तिस का गुरु समाधान करते हैं कि, यदि शुद्ध विचार की दृष्टि से देखो तो मेरे बंध नहीं है और मोक्ष भी नहीं है अर्थात् विचारदृष्टि से न आत्मा का बंध होता है, न मोक्ष होता है, क्योंकि मैं (आत्मा) नित्य चित्स्वरूप हूं, तहां शिष्य शंकित होकर प्रश्न करता है कि हे गुरो ! वेदान्तशास्त्र विचार का जो फल है सो कहिये. तहां गुरु कहते हैं कि भ्रांति की निवृत्ति ही वेदांतशास्त्र के विचार का फल है क्योंकि बड़ा आश्चर्य है जो मेरे विषें स्थित भी जगत् वास्तव में मेरे विषें स्थित नहीं है इस प्रकार विचार करनेपर भी भ्रांतिमात्र ही नष्ट हुई, परमानंद की प्राप्ति नहीं हुई इस से प्रतीत होता है कि, भ्रांति की निवृत्ति ही शास्त्रविचार का फल है, तहां शिष्य कहता है कि, हे गुरो ! भ्राति कैसी थी जो विचार करनेपर तुरंत ही नष्ट हो गई, तिस का गुरु उत्तर देते है कि, भ्राति निराश्रय अर्थात् अज्ञानरूपथी सोविचार से नष्ट हो गई ॥१८॥

स शरीरमिदंविश्वं न किञ्चिदिति निश्चितम् ।
शुद्धचिन्मात्र आत्मा च तत्कस्मिकल्पनाधुना॥१९॥

अन्वयः- इदम् शरीरम् विश्वं किञ्चित् न इति निश्चितम् आत्मा व शुद्धचिन्मात्रः तत् अधुना कल्पना कस्मिन् (स्यात्) ॥ १९॥

शिष्य शंका करता है कि उस मुक्त पुरुष के वि भी प्रपंच का उदय होना चाहिये, क्योंकि रज्जु होती है तो उस में क भी अंधकार के विषें सर्प की भ्रांति हो ही जाती है, तिसी प्रकार अधिष्ठान जो ब्रह्म है तिस के विषें द्वैत (प्रपंच) की कल्पना हो जाती है इस शंका का गुरु समाधान करते हैं कि, यह शरीरसहित संपूर्ण जगत् जो प्रतीत होता है सो कुछ नहीं है अर्थात् न सत् है, न असत् है, क्योंकि सब ब्रह्मरूप है, सोई श्रुतिमें भी कहा है " नेह नानास्ति किञ्चन " अर्थात् यह संपूर्ण नगत् ब्रह्मरूप ही

है, आत्मा शुद्ध अर्थात् मायारूपी मलरहित और चित्स्वरूप है, इस कारण किस अधिठान में विश्व की कल्पना होती है ? ॥ १९॥

शरीरंस्वर्गनर को बन्धमोक्षोभयंतथा।
कल्प-नामात्रमेवैतत्किमेकाचिदात्मनः॥२०॥

अन्वयः- शरीरम् स्वर्गनर को बन्धमोक्षौ तथा भयम् एतत् कल्पनामात्रमेव चिदात्मनः मे एतैः किम् कार्यम् ॥ २० ॥

शिष्य शंका करता है कि, हे गुरो! यदि संपूर्ण प्रपंच मिथ्या है, तब तो ब्राह्मणादि वर्ण और मनुष्यादि जाति भी अवास्तविक होंगे और वर्णजाति के अर्थ प्रवृत्त होनेवाले विधिनिषेध शास्त्र भी अवास्तविक होंगे, और विधिनिषेध शास्त्रों के विषें वर्णन किये हुए स्वर्ग नरक तथा स्वर्ग के विषेप्रीति और नरक का भय भी अवास्तविक हो जायगे और शास्त्रों के विषें वर्णन किये हुए बंध मोक्ष भी अवास्तविक अर्थात् मिथ्या हो जायँगे ? तिस का गुरु समाधान करते हैं कि, हे शिष्य ! तेने जो शंका की सो शरीर, स्वर्ग, नरक, बंध, मोक्ष तथा भय आदि
संपूर्ण मिथ्या हैं, तिन शरीरादि के साथ सच्चिदानंदस्वरूप जो में तिस मेरा कोई कार्य नहीं है, क्योंकि संपूर्ण विधिनिषेधरूप कार्य अज्ञानी पुरुष के होते हैं, ब्रह्मज्ञानी के नहीं ॥२०॥

अहो जनसमूहेऽपि न द्वैतं पश्यतो मम।
अरण्यभिवसंवृत्तंकरतिकरवाण्यहम् ॥२१॥

अन्वयः- अहो न दैतम् पश्यतः मम जनसमूहे अपि अरण्यम् इव संवृत्तम् अहम् क रतिम् करवाणि ॥२१॥

अब इस प्रकार वर्णन करते हैं कि, जिस प्रकार स्वर्ग नरक आदि को अवास्तविक वर्णन किया तिसी प्रकार यह लोक भी अवास्तविक है इस कारण इस लोक में मेरी प्रीति नहीं होती है, बडे आश्चर्य की वार्ता है कि, मैं जनसमूह में निवास करता हूं, परंतु मेरे मन को वह जनसमूह अरण्यसा प्रतीत होता है, सो मैं इस अवास्तविक कहिये मिथ्याभूत संसार के विषें क्या प्रीति करूं ? ॥२१॥

नाहंदेहो न मेरेहोजीवो नाहमहंहि चित् ।
अयमेवहिमेबन्धआसीद्याजीवितेस्टहा२२॥

अन्वयः- अहम् देहः न मे देहः न अहम् जीवः न हि अहम् चित् मे अयम् एव हि बन्धः या जीविते स्पृहा आसीत् ॥ २२॥

शिष्य शंका करता है कि, हे गुरो ! पुरुष शरीर के विषें मैं हूं मेरा है इत्यादि व्यवहार कर के प्रीति करता है इस कारण शरीर के विषें तो स्पृहा करनी ही होगी, तिस का समाधान करते हैं कि, देह मैं नहीं हूं, क्योंकि देह जड है और देह मेरा नहीं है, क्योंकि मैं तो असंग हूं और जीव जो अहंकार सो मैं नहीं, तहां शंका होती है कि, तु कौन है ? तिस के उत्तर में कहते हैं कि, मैं तो चैतन्यस्वरूप ब्रह्म हूं तहां शंका होती है कि, यदि आत्मा चैतन्यस्वरूप है, देहादिरूप जड नहीं है तो फिर ज्ञानी पुरुषोंकी भी जीवन में इच्छा क्यों होती है ? तिस का समाधान करते हैं कि, यह जीवने की जो इच्छा है सोई बंधन है, दूसरा बंधन नहीं है, क्योंकि, पुरुष जीवन के निमित्तहो सुवर्ण को चोरी आदि अनेक प्रकार के अनर्थ कर के कर्मानुसार संसारबंधन में बँधता है और सच्चिदानंदस्वरूप आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होनेपर पुरुष की जीवन में स्पृहा नहीं रहती है ॥२२॥

अहोभुवनकल्लोलैर्विचित्र क्सुमुत्थितम् ।
मय्यनन्तमहाम्भोधौचित्तवातेसमुद्यते॥२३॥

अन्वयः- अहो अनन्तमहाम्भोधौ मयि चित्तवाते समुद्यते विचित्रः भुवनकल्लोलैः द्राक्समुत्थितम् ॥ २३ ॥

जब पुरुष को सब के अधिष्ठानरूप आत्मस्वरूप का ज्ञान होता है, तब कहता है कि, अहो ! बडे आश्चर्य की वार्ता है कि, मैं चैतन्यसमुद्रस्वरूप हूं और मेरे विषें चित्तरूपी वायु के योग से नानाप्रकार के ब्रह्मांडरूपी तरंग उत्पन्न होते हैं अर्थात् जिस प्रकार जल से तरंग भिन्न नहीं होते हैं, तिसी प्रकार ब्रह्मांड मुझ से भिन्न नहीं है ॥२३॥

मय्यनंतमहाम्भोधी चित्तवातेप्रशाम्यति ।
अभाग्याज्जीववणिजोजगत्पोतोषिनश्वरः ॥ २४ ॥

अन्वयः- अनन्तमहाम्भोधौ मषि चित्तवाते प्रशाम्यति (सति) जीववणिजः अभाग्यात् जगत् पोतः विनश्वरः (भवति) ॥ २४ ॥

अब प्रारब्ध कर्मों के नाश की अवस्था दिखाते हैं कि मैं सर्वव्यापक चैतन्यस्वरूप समुद्र हूं, तिस मेरे विषें चित्तवायु के अर्थात् संकल्पविकल्पात्मक मनरूप वायु के शांत होनेपर अर्थात् संकल्पादिरहित होनेपर जीवात्मारूप व्यापारी के अभाग्य कहिये प्रारब्ध के नाशरूप विपरीत पवन से जगत् समुद्र के विषें लगा हुआ शरीर आदिरूप नौका का समूह विनाशवान होता है ॥२४॥

मय्यनन्तमहाम्भोधावाश्चर्यजीववीचयः।

उद्यन्तिघ्नन्तिखेलन्तिप्रविशन्तिस्वभावतः॥ २५ ॥

अन्वयः- आश्चर्यम् (यत्) अनन्तमहाम्भोधौ मयि जीवबीचयः स्वभावतः उद्यन्ति घ्नन्ति खलन्ति प्रविशन्ति ॥ २५ ॥

अब संपूर्ण प्रपंच को मिथ्या जानकर कहते हैं कि, आश्चर्य है कि, निष्क्रिय निर्विकार मुझ चैतन्यसमुद्र के विषें अविद्याकामकर्मरूप स्वभाव से जीवरूपी तरंग उत्पन्न होते हैं और परस्पर शत्रुभाव से ताडन करते हैं और कोई मित्रभाव से परस्पर क्रीडा करते हैं और अविद्याकाम कर्म के नाश होनेपर मेरे विलीन हो जाते हैं अर्थात् जीवरूपी तरंग अविद्या बंधन से उत्पन्न होते हैं, वास्तव में चिद्रूप हैं जिस प्रकार घटाकाश महाकाश में लीन हो जाता है, तिस प्रकार मेरे विषें संपूर्ण जीव लीन हो जाते हैं, वही ज्ञान है ॥२५॥

इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां सान्वयभाषाटीकया सहितं शिष्येणोक्तमात्मानुभवोल्लासपञ्चपञ्चविंशतिकं नाम द्वितीयं प्रकरणं समाप्तम् ॥२॥

=====

अथ तृतीयं प्रकरणम् ३.

अविनाशिनमात्मानमेकं विज्ञाय तत्त्वतः।
तवात्मज्ञस्यधीरस्यकथमर्थार्जने रतिः॥ १॥

अन्वयः- हे शिष्य ! अविनाशिनम् एकम् आत्मानम् विज्ञाय तत्त्वतः आत्मज्ञस्य धीरस्य तव अर्थार्जने रतिः कथम् (लक्ष्यते)॥ १॥

की आत्मज्ञान के अनुभव से युक्त भी अपने शिष्य को व्यवहार में स्थित देखकर उस के आत्मज्ञानानुभव की परीक्षा करने के निमित्त उस की व्यवहार के विषें स्थिति की निंदा कर के आत्मानुभवात्मक स्थिति का उपदेश करते हैं कि, हे शिष्य ! अविनाशी कहिये त्रिकाल में सत्यस्वरूप आत्मा को किसी देशकाल में भेद को नहीं प्राप्त होनेवाला जानकर, यथार्थरूप से आत्मज्ञानी धैर्यवान् जो तू तिस तेरी व्यावहारिक अर्थ के संग्रह करने में प्रीति किस कारण देखन में आती है ॥ १॥

आत्मज्ञानादहोप्रीतिर्विषयभ्रमगोचरे।
शुक्तज्ञानतोलोभोयथारजतविभ्रमे॥ २॥

अन्वयः- अहो (शिष्य) ! यथा शुक्तेः अज्ञानतः रजतविभ्रमे लोभः (भवति तथा) आत्मज्ञानात् विषयभ्रमगोचरे प्रीतिः (भवति)॥ २॥

विषय के विषें जो प्रीति होती है सो आत्मा के अज्ञान से होती है इस वार्ता को दृष्टांत और युक्तिपूर्वक दिखाते हैं, अहो शिष्य ! जिस प्रकार आत्मा के सीपी का ज्ञान होने से रजत की भ्रांति कर के लोभ होता है, तिसी प्रकार आत्मा के अज्ञान से भ्रांति ज्ञान से प्रतीत होनेवाले विषयों में प्रीति होती है। जिन को आत्मज्ञान होता है, उन ज्ञानियों की विषयों में कदापि प्रीति नहीं होती है ॥२॥

विश्वस्फुरतियत्रेदंतरंगा इव सागरे ।
सोऽहमस्मीतिविज्ञायकिंदीनइवधावसि ॥३॥

अन्वय:- सागरे तरङ्गा इव यत्र इदम् विश्वम् स्फुगति सः अहम् अस्मि इति विज्ञाय दीनः इव किम् धावा से ॥ ३ ॥

ऊपर इस प्रकार कहा है कि, विषयों के विषें जो प्रीति होती है, सो अज्ञान से होती है, अब इस वार्ता का वर्णन करते हैं कि, संपूर्ण अध्यस्त को अधिष्ठानभूत जो आत्मा तिस के जाननेपर फिर विषयों के विष प्रीति नहीं होती है, जिस प्रकार समुद्र के विषें तरंग स्फुरते हैं, अर्थात् अभिन्नरूप होते हैं, तिसी प्रकार जिस आत्मा के विषें यह विश्व अभिन्नरूप है, वह निर्विशेष आत्मा मैं हूं, इस प्रकार साक्षात् कर के दीन पुरुष की समान मैं हूं, और मेरा है इत्यादि अभिमान कर के क्यों दौडता है॥३॥

श्रुत्वापिशुद्धचैतन्यमात्मानमतिसुन्दरम्।
उपस्थेऽत्यंतसंसक्तोमालिन्यमधिगच्छति ॥४॥

अन्वयः शुद्धचैतन्यम् अति सुन्दरम् आत्मानम् श्रुत्वा अपि उपस्थे अत्यन्तसंसक्तः (अत्मज्ञः) मालिन्यम् अधिगच्छति॥४॥

ऊपर के तीन श्लोकों में शिष्य की व्यवहारावर की निंदा की अब संपूर्ण ही ज्ञानियों की व्यवहारावस्था में स्थिति की निदा करते हैं कि, गुरु के मुख से वदान्तवाः क्यों से अतिसुंदरशुद्ध चैतन्य आत्मा को श्रवण कर के तथा साक्षात् कर के तदनंतर समीपस्थ विषयों के विषें प्राति करनेवाला आत्मज्ञाना मालिन्य काहय मूढपन को प्राप्त हो जाता है ॥४॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
मुनेजानतआश्चर्यममत्वमनुवर्तते ॥५॥

अन्वय:- सर्वभूतेषु च आत्मानम् आत्मनि च सर्वभूतानि जानतः मुनेः (विषयेषु) ममत्वम् अनुवर्तते (इति) आश्चर्यम्॥५॥

फिर भी ज्ञानी के विषयों में प्रीति करने को निंदा करत हैं कि, ब्रह्म से लेकर तृणपर्यंत संपूर्ण प्राणियों के विषें अधिष्ठानरूप से आत्मा विद्यमान है और संपूर्ण प्राणी आत्मा के विषें अव्यस्त अर्थात् कल्पित हैं, जिस प्रकार कि, रज्जु के विषें सर्प कल्पित होता है, इस प्रकार जानते हुए भी मुनि को विषयों के विममता होती है, यह बड़ा ही आश्चर्य है. क्योंकि सीपी के विषेरजत को काल्पत जानकर भी ममता करना मूर्खता ही होती है ॥५॥

आस्थितः परमाद्वैतं मोक्षार्थेऽपिव्यवस्थितः।
आश्चर्य कामवशगोषिकल केलिशिक्षया६ ॥

अन्धय:परमाद्वैतम् आस्थितः (तथा) मोक्षार्थे व्यवस्थितः अपि कामवशगः (सन्) केलिशिक्षया विकलः (दृश्यते इति) याश्चर्यम् ॥ ६ ॥

आत्मज्ञानी को विषयों के विषें प्रीति करने की निंदा करते हुए कहते हैं कि, परम अद्वैत अर्थात् सजातीयस्वगतभेदशून्य जो ब्रह्म तिस का आश्रय और मोक्षरूपो सच्चिदानंदस्वरूप के विषें निवास करनेवाला पुरुष कामवश होकर नाना प्रकार की क्रीडा के अभ्यास से अर्थात् नाना प्रकार के विषयों में लवलीन होकर विकल देखने में आता है, यह बड़ा ही आश्चर्य है ॥ ६ ॥

उद्भूतं ज्ञानदुर्मित्रमबधा-तिदुर्बलः।
आश्चर्य काममाकांक्षेत्कालमंतमनुश्रितः॥

अन्वय:- अन्तम् कालम् अनुश्रितः अतिदुर्बलः (ज्ञानी) उद्भूतम् ज्ञानदुर्मितम् अवधार्य (अपि) कामम् आकांक्षेत् (इति) आश्चर्यम् ॥ ७ ॥

अब इस वार्ता का वर्णन करते हैं कि, विवे की पुरुष को सर्वथा विषयवासना का त्याग करना चाहिये, उद्भूत कहिये उत्पन्न होनेवाला जो काम वह महाशत्रु ज्ञान को नष्ट करनेवाला है, ऐसा विचार करके भी अति दीन होकर ज्ञानी विषयभोग की आकांक्षा करता है, यह बडे ही आश्चर्य की वार्ता है, क्योंकि जो पुरुष विषयवासना में लवलीन होता है वह कालपास होता है अर्थात् क्षणमात्र में नष्ट हो जाता है इस कारण ज्ञानी पुरुष को विषयतृष्णा नहीं रखनी चाहिये ॥७॥

इहामुत्र विरक्तस्य नित्यानित्यविवेकिनः ।
आश्चर्यमोक्षकामस्य मोक्षादेव विभीषिका८॥

अन्वय:- इह अनुत्र विरक्तस्य नित्यानित्यविवेकिनः मोक्षकामस्य मोक्षात् एव विभीषि का (भवति इति) आश्चर्यम् ॥ ८॥

अब इस वार्ता का वर्णन करते हैं कि, ज्ञानी पुरुष को विषयों का वियोग होनेपर शोक नहीं करना चाहिये, जिस को इस लोक और परलोक के सुख से वैराग्य हो गया है और आत्मा नित्य है तथा जगत् अनित्य है, इस प्रकार जिस को ज्ञान हुआ है, और मोक्ष जो सच्चिदानंद की प्राप्ति तिस के विषें जिस की अत्यंत अभिलाषा है, वह पुरुष भी बलवान् देह आदि असत् स्त्रीपुत्रादि के वियोग से भयभीत होता है, यह बडे ही आश्चर्य की वार्ता है, स्वन में अनेक प्रकार के सुख देखनेपर भी जाग्रत् अवस्था में वह सुख नहीं रहते हैं तो उन सुखों का कोई पुरुष शोक नहीं करता है तिसी प्रकार स्त्री पुत्र धन आदि असत् वस्तु का वियोग होनेपर शोक करना योग्य नहीं है ॥८॥

धीरस्तुज्यमानोऽपिपीड्यमानोऽपिसर्वदा।
अत्मानंकवलंपश्यन्नतुष्यतिनकु.प्यति ॥९॥

अन्वयधीरः तु (लोकै विषयान) भेज्यमानः अपि (निन्दादिना) पीडयमानः अपि केवलम् आत्मानम् पश्यन् न. दुष्यात न वु.प्यति ॥९॥

अब इस वार्ता का वर्णन करते हैं कि, ज्ञानी को शोक हर्ष नहीं करने चाहिये, ज्ञानी पुरुषों को जगत् के विषें पुण्यवान् पुरुष नाना प्रकार के भोग कराते हैं, परंतु वह ज्ञानी पुरुष तिस से हर्ष को नहीं प्राप्त होता है और पापी पुरुष पीडा देते हैं तो उस से शोक नहीं करता है क्योंकि वह ज्ञानी पुरुष जानता है कि, आत्मा सुखदुःखरहित है अर्थात् आत्मा को कदापि हर्ष शोक नहीं हो सकता है॥९॥

चेष्टमानं शरीरं स्वं पश्यत्यन्यशरीवत् ।
संस्तवेचापिनिन्दायांकथंधुभ्येन्महाशयः॥१०॥

अन्वय:- (यः) चेष्टमानम् स्वम् शरीरम् अन्यशरीरवत् पश्यति (सः) महाशयः संस्तवे अपि च निन्दायाम् कथम् क्षुभ्येत् ॥१०॥

हर्ष शाक के हेतु जो स्तुति निंदा आदि सो तो शरीर के धर्म हैं और शरीर आत्मा से भिन्न है फिर ज्ञानी को हर्षशोक किस प्रकार हो सकते हैं इस वार्ता का वर्णन करते हैं, जो ज्ञानी पुरुष चेष्टा करनेवाले अपने शरीर को अन्य पुरुष के शरीर की समान आत्मा से भिन्न देखता है, वह महाशय स्तुति और निंदा के विषें किस प्रकार हर्षशोकरूप क्षोभ को प्राप्त होयगा ? अर्थात् नहीं प्राप्त होयगा ॥१०॥

मायामात्रमिदं विश्वं पश्यन्विगतकौतुकः।
अपिसन्निहितेमृत्यौकथंत्रस्यतिधीरधीः११॥

अन्वयः- इदम् विश्वम् मायामात्रम् (इति) पश्यन् विगतकौतुकः धीरधीः मृत्यौ सन्निहिते अपि कथम् त्रस्यति ॥ ११ ॥

जिस का मरण होता है और जो बंधकरता है ये दोनों अनित्य हैं इस प्रकार जानने के कारण ज्ञानी को मृत्युकाल के समीप होनेपर भी भय किस प्रकार हो सकता है इस वार्ता का वर्णन करते हैं, यह दृश्यमान विश्व मायामात्र कहिये मिथ्यारूप है इस प्रकार देखता हुआ, इस कारण ही यह शरीर आदि विश्व कहां से उत्पन्न हुआ है और कहां लीन होयगा इस प्रकार विचार नहीं करनेवाला ज्ञानी पुरुष मृत्यु के समीप आनेपर भी भयभीत नहीं होता है ॥११॥

निस्टहंमानसंयस्यनैराश्येऽपिमहात्मनः।
तस्यात्मज्ञानतृप्तस्यतुलनाकेनजायते॥१२॥

अन्वयः- नैराश्ये अपि यस्य मानसम् निःस्पृहम् (भवति तस्य) आत्मज्ञानतृप्तस्य महात्मनः केन (समम्) तुलना जायते ? ॥ १२ ॥

अब ज्ञानी का सर्व की अपेक्षा उत्कृष्टपना दिखाते हैं कि, मैं ब्रह्मरूप हूं इस प्रकार ज्ञान होनेपर जिस के संपूर्ण मनोरथ पूर्ण हो गये हैं ऐसा जो महात्मा ज्ञानी पुरुष तिस का मन मोक्ष के विषे भी निराश होता है, अर्थात् वह मोक्षकी भी अभिलाषा नहीं करता है, ऐसे ज्ञानी की किस से तुलना की जाय अर्थात् ज्ञानी के तुल्य कोई भी नहीं होता है ॥१२॥

स्वभावादेव जानाति दृश्यमेतन किञ्चन ।
इदंग्राह्यमिदंत्याज्यंसकिंपश्यतिधीरधी १३

अन्वयः- स्वभावात् एव (इदम्) दृश्यम् किञ्चन न (इति) जानाति सः धीरधीः इदम् ग्राह्यम् इदम् त्याज्यम् (इति) किम् पश्यति ॥ १३ ॥

ज्ञानी पुरुष को " यह ग्रहण करने योग्य है, यह त्यागने योग्य है " इस प्रकार व्यवहार नहीं करना चाहिये, इस वार्ता का वर्णन करते हैं, स्वभावसेहीअर्थात् अपनी सत्ता से ही जिस प्रकार सीपी के विषें रजत कल्पना मात्र होती है, तिसी प्रकार यह दृश्यमान द्वैत, प्रपंच मिथ्यारूप है, जगत् कल्पित है अर्थात् सत् है न असत् इस प्रकार जाननेवाले ज्ञानी की बुद्धि धैर्यसंपन्न हो जाती है, तो भी वह ज्ञानी "यह वस्तु ग्रहण करने योग्य है, यह वस्तु त्यागने योग्य है" इस प्रकार का व्यवहार क्यों करता है, यह बडे ही आश्चर्य की वार्ता है अर्थात् ज्ञानी पुरुष को कदापि यह वस्तु त्यागने योग्य है, यह वस्तु ग्रहण करने योग्य है इस प्रकार व्यवहार नहीं करना चाहिये ॥१३॥

अन्तस्त्यक्तकषायस्य निर्द्वन्द्वस्य निराशिषः।
यदृच्छयागतो भोगो न दुःखाय नतुष्टये॥ १४॥

अन्वय:- अन्तस्त्यक्तकषायस्य निर्द्वन्द्वस्य निराशिषः यदृच्छया आगतः भोगः दुःखाय न (भवति) तुष्टये (च)न (भवति) १४
उपरोक्त विषय में हेतु कहते हैं कि, अन्तःकरण के रागद्वेषादि कषायों को त्यागनेवाले और शीत उष्णादि द्वंदरहित तथा विषयमात्र की इच्छा से रहित जो ज्ञानी पुरुष तिस को दैवगतिसे प्राप्त हुआ भोग न दुःखदायक होता है और न प्रसन्न करनेवाला होता है ॥ १४॥

इति श्रीमदष्टावकविरचितायां ब्रह्मविद्यायां सान्वयभाषाटीकया सहितमाक्षेपद्वारोपदेशकं नाम तृतीयं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ३॥

=====
अथ तुरीयं प्रकरणम् ४.
हन्तात्मज्ञस्य धीरस्य खेलतो भोगलीलया ।
नहि संसारवाहीकर्मूढैः सह समानता ॥ १॥

अन्वय:- हन्त भोगलीलया खेलतः आत्मज्ञस्य धीरस्य संसारबाहीकैः मूढैः सह समानता नहि ॥ १॥

इस प्रकार श्रीगुरुने शिष्य की परीक्षा लेने के निमित्त माक्षेप करे, अब तिस के उत्तर में शिष्य गुरु के प्रति इस प्रकार कहता है कि, ज्ञानी संपूर्ण व्यवहारों को मिथ्या जानता है, और प्रारब्धानुकूल नाना प्रकार के जो भोग प्राप्त होते हैं उन को आत्मविलास मानता है. आनंद की वार्ता है कि, जो आत्मज्ञानी है वह अपने आत्मा को संपूर्ण जगत् का अधिष्ठान जानता है, वही धैर्यवान् है, अर्थात् उस का चित्त विषयों में आसक्त नहीं होता है, प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त हुए निषयों की क्रीडा के विषें रमण करनेवाले तिस ज्ञानी की संसार के विषें देहाभिमान करनेवाले सूखाँ से तुल्यता नहीं होती है, सोई गीता के विषें श्रीकृष्ण भगवान्ने कहा है-"तत्ववित्त महाबाहो गुणकर्मविभागयोः । गुणा गुणेषु वर्तत इति मत्वा न सज्जते ॥" अर्थात् आत्मज्ञानी सम्पूर्ण व्यवहारों में रहता है परंतु किसी कार्य का अभिमान नहीं करता है, क्योंकि वह जानता है कि, गुण गुणों के विषें वर्तते हैं, मेरी कोई हानि नहीं है, मैं तो साक्षी हूं॥ १॥

यत्पदंप्रेप्सवोदीनाः शकाद्याः सर्वदेवताः।

अहोतत्रस्थितोयोगीनहर्षमुपगच्छति ॥२॥

अन्वयः- अहो शकाद्याः सर्वदेवताः यत्पदम् प्रेप्सवः (सन्तः) दीनाः वर्तन्ते तत्र स्थितः योगी हर्षम् न उपगच्छति ॥२॥

को तहां शंका होती है कि, सांसारिक व्यवहारों का वर्ताव करनेवाला ज्ञानी संसारी पुरुष को तुल्य क्यों नहीं होता है, तिस का समाधान करते हैं कि, बडे आश्चर्य की वार्ता है, हे गुरो! इंद्र आदि संपूर्ण देवता जिस आत्मपद की प्राप्ति की इच्छा करते हुए आत्मपद की प्राप्ति न होने से दीनता को प्राप्त होते हैं, तिस सच्चिदानंदस्वरूप आत्मपद के विषें स्थित अर्थात् तत् त्वम् पदार्थ के ऐक्यज्ञान से आत्मपद के विषें वर्तमान आत्मज्ञानी विषयभोग से सुख को नहीं प्राप्त होता है और तिस विषयसुख का नाश होनेपर शोक नहीं करता है ॥२॥

तज्ज्ञस्य पुण्यपापाभ्यां स्पर्शोह्यन्तनं जायते।
नह्याकाशस्यधूमेनदृश्यमानापिसङ्गतिः॥३॥

अन्वयः- (यथा) हि आकाशस्य धूमेन (सह) दृश्यमाना अपि (सङ्गतिः) न (अस्ति तथा) हि तज्ज्ञस्य पुण्यपापाभ्याम् अन्तः स्पर्शः न जायते ॥ ३ ॥

अब यह वर्णन करते हैं कि, आत्मज्ञानी पुण्य और पाप से लिप्त नहीं होता है 'तत् त्वम् ' पदार्थ की एकता को जाननेवाले तत्वज्ञानी को अंतःकरण के धर्म जो पुण्य पाप तिन से संबंध नहीं होता है, वह वेदोक्त विधि निषेध के बंधन में नहीं होता है, क्योंकि जिस को आत्मज्ञान हो जाता है, उस के अंतःकरण में पाप पुण्यका संबंध नहीं होता है, जिस प्रकार धूम आकाश में जाता है, परंतु उस धूम का आकाश से संबंध नहीं होता है, गीता के विषें कहा है कि, "ज्ञानाग्निःसर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा " अर्थात् ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर देता है ॥३॥

आत्मैवेदं जगत् सर्वं ज्ञातं येन महात्मना।
यदृच्छयावर्त्तमानंतंनिषेधुंक्षमेतकः॥४॥

अन्वयः- येन महात्मना इदम् सर्वम् जगत् आत्मा एव (इति) ज्ञातम् तम् यदृच्छया वर्तमानम् कः निषेद्धम् क्षमेत ॥ ४॥

तहां शंका होती है कि, ज्ञानी कर्म करता है और उस को पाप पुण्य का स्पर्श नहीं होता है, यह कैसे हो सकता है तिस का समाधान करते हैं कि, जिस ज्ञानी महात्माने "यह दृश्यमान संपूर्ण जगत् आत्मां ही है। इस प्रकार जान लिया और तदनंतर

प्रारब्ध के वशीभूत होकर वर्तता है, उस ज्ञानी को कोई रोक नहीं सकता है अर्थात् वेदवचन भी ज्ञानी को न रोक सकता है न, प्रवृत्त कर सकता है. क्योंकि "प्रबोधनीय एवासो सुप्तो राजे बंदिभिः " अर्थात् जिस प्रकार बंदी (भाट) राजा के चरित्रों का वर्णन करते हैं तिसी प्रकार वेद भी आत्मज्ञानी का बखान करते हैं ॥४॥

आब्रह्मस्तम्बपर्य्यन्ते भूतग्रामे चतुर्विधे।
विज्ञस्यैवहिसामर्थ्यमिच्छानिच्छाविसर्जने ॥५॥
अन्वय:- हि आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ते चतुर्विधे भूतग्रामे विज्ञस्य एव इच्छानिच्छाविसर्जने सामर्थ्य (अस्ति) ॥५॥

शिष्य शंका करता है कि, ज्ञानी अपनी इच्छा के अनुसार वर्तता है, या देवेच्छा से वर्तता है ? तिस का गुरु उत्तर देते हैं कि, ब्रह्मा से तृणपर्यंत चार प्रकार के प्राणियों से भरे हुए ब्रह्मांड के विषें इच्छा और अनिच्छा यह दो पदार्थ किसी के दूर करने से दूर नहीं होते हैं परंतु ज्ञानी को ऐसी सामर्थ्य है कि, न उस को इच्छा है, न अनिच्छा है ॥५॥

आत्मानमद्वयं कश्चिन्जानाति जगदीश्वरम् ।
यद्वेत्ति तत्स कुरुते नभयं तस्य कुत्रचित्॥ ६ ॥

अन्वय:- कश्चित् जगदीश्वरम् आत्मानम् अद्वयम् जानाति; सः यत् वेत्ति तत् कुरुते; तस्य कुत्रचित् भयम् न (भवति) ॥ ६ ॥

अब इस वार्ता का वर्णन करते हैं कि, ज्ञानी पुरुष सर्वथा निर्भय होता है, आत्मज्ञान से द्वैतप्रपंच को दूर करनेवाले ज्ञानी को भय नहीं होता है परंतु अद्वितीय आत्मस्वरूप को हजारों में कोई एक ही जानता है और अद्वितीय आत्मस्वरूप का ज्ञान होने के अनंतर कोई कर्म करे अथवा न करे तो भी वह इस लोक तथा परलोक के विषें भय को नहीं प्राप्त होता है॥ ६ ॥

इति श्रीमदष्टावक्रमनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां सान्वयभाषाटीकया सहितं शिष्यप्रोक्तानुभवोल्लासषट्कं चतुर्थं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ४॥

=====

अथ पञ्चमं प्रकरणम् ५.

नते संगोऽस्ति केनापि किं शुद्धस्त्य- का तुमिच्छसि ॥

संघातविलयं कुर्वन्नेव-मेवलयं व्रज॥ १ ॥

अन्वयः- (हे शिष्य !) ते केन अपि सङ्गः न अस्ति; शुद्धः (त्वम्) किम् त्यम् (उपादातुं च) इच्छसि; संघातविलयम् कुर्वन् एवम् एव लयम् व्रज ॥ १॥

इस प्रकार शिष्य की परीक्षा लेकर उस को दृढ उपदेश दिया, अब चार श्लोकों से गुरु लय का उपदेश करते हैं, हे शिष्य ! तू शुद्धबुद्धस्वरूप है, अहंकारादि किसीके भी साथ तेरा संबंध नहीं है, सो नित्य शुद्धबुद्ध मुक्तस्वभाव तू त्यागने को ओर ग्रहण को किस को इच्छा करता है अर्थात तेरे त्यागने और ग्रहण करने योग्य कोई पदार्थ नहीं है, तिस कारण संघात का निषेध करता
हुआ लय को प्राप्त हो अर्थात् देहादि संपूर्ण वस्तु जड हैं उस का त्याग कर और मिथ्या जान ॥ १ ॥

उदेति भवतो विश्वं वारिधेरिव बुद्बुदः।
इति ज्ञात्वैकमात्मानमेवमेव लयं व्रज ॥ २ ॥

अन्वयः- (हे शिष्य !) वारिधेः बुद्बुद इव भवतः विश्वम् उदेति; इति एकम् आत्मानम् ज्ञात्वा एवम् एव लयम् व्रज ॥ २ ॥

हे शिष्य ! यह जगत् अपनी भावना से हुआ है अर्थात् जिस प्रकार जल से बुलबुले भिन्न नहीं होते हैं, तिसी प्रकार तुझ (आत्मा) से यह जगत् भिन्न नहीं है, सजातीय विजातीय और स्वंगत ये तीन भेद आत्मा के विषें नहीं हैं आत्मा एक है, सो में ही हूं इस प्रकार जानकर आत्मस्वरूप के विषें लय को प्राप्त हो, (एक मनुष्य जाति के विषें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि अनेक भेद हैं. यह सजातीय भेद कहाता है, और मनुष्य, पशु, पक्षी यह जो भिन्न २ जाति हैं. सो विजातीय भेद हैं तथा एक देह के विषें हाथ, चरण, मुख इत्यादि जो भेद हैं सो स्वगत भेद कहाता है)॥ २ ॥

प्रत्यक्षमप्यवस्तुत्वाद्विश्वंनास्त्यमलेत्वयि ।
रज्जसर्प इव व्यक्तमेवमेव लयं व्रज ॥ ३ ॥

अन्वयः- प्रत्यक्षम् अपि व्यक्तम् विश्वम् रज्जुसः इव अवस्तुत्वात् अमले त्वयि न अस्ति; (तस्मात्) एवम् एव लयम् व्रज ॥ ३ ॥

तहां शंका होती है कि, जब प्रत्यक्ष हार और सर्प आदि का भेद प्रतीत होता है तो फिर किस प्रकार हार आदि को विलय हो सकता है ? तिस का समाधान करते हैं कि, रज्जु अर्थात् डोरे के विषें सर्प की प्रत्यक्ष प्रतीति होती हे परंतु वास्तव में वह सर्प नहीं होता है, इसी प्रकार यह प्रत्यक्ष स्पष्ट प्रतीत होनेवाला जगत् निर्मल आत्मा के विषें नहीं है, इस प्रकार ही जानकर आत्मस्वरूप के विषें लीन हो ॥ ३ ॥

समदुःखसुखःपूर्णआशानैराश्ययोःसमः।
समजीवितमृत्युःसन्नेवमेव लयं व्रज ॥४॥

अन्वयः- हे (शिष्य !) पूर्णः समदुःखसुखः (तथा.) आशानैराश्ययोः समः सन् एवम् एव लयं व्रज ॥ ४ ॥

हे शिष्य ! तू (आत्मा) आत्मानंद से परिपूर्ण इस कारण ही प्रारब्धवश प्राप्त हुए सुख और दुःख के विषें समदृष्टि करनेवाला तथा आशा और निराशा के विषें समदृष्टि करनेवाला और जीवन तथा मरण के समदृष्टि से देखता हुआ ब्रह्मदृष्टिरूप लय को प्राप्त हो ॥४॥

इति श्रीमदष्टावक्रगीतायां ब्रह्मविद्यायां भाषाटीकया सहितमाचार्योक्तं लयचतुष्टयं नाम पञ्च प्रकरणं समाप्तम् ॥५॥

=====

अथ षष्ठं प्रकरणम् ६.
आकाशवदनन्तोऽहं घटवत्प्राकृतं जगत् ।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः॥
जंअन्वयः- अहम् आकाशवत् अनन्तः, प्राकृतम् जगत् घटवत् इति ज्ञानम् (अनुभवसिद्धम्), तथा एतस्य त्यागः न, ग्रहः न, लयः (न) ॥ १॥

इस प्रकार पंचम प्रकरण में गुरुने लयमार्ग का उपदेश किया, अब शिष्य प्रश्न करता है कि, अत्माजो अनंतरूप है उस का देहादि के विषें निवास करना किस प्रकार घटेगा ? तिस का गुरु समाधान करते हैं कि, आत्मा आकाश की समान अनंतरूप है और प्रकृति का कार्य जगत् घट की समान आत्मा का अवच्छेदक और निवासस्थान है अर्थात् जिस प्रकार आकाश घटादि में व्याप्त होता है तिसी प्रकार आत्मा देह के विषें व्याप्त है, इस प्रकार का जो ज्ञान है, सो वेदांतसिद्ध और अनुभवसिद्ध है, इस में कुछ सन्देह नहीं है तिस कारण उस आत्मा का त्याग नहीं है और ग्रहण नहीं है, तथा लय नहीं है। ॥१॥

महोदधिरिवाहं स प्रपञ्चो वीचिसनिमः ।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः॥
अन्वयः- सः अहम् महोदधिः इव, प्रपञ्चः वीचिसनिमः इति ज्ञानम् (अनुभवसिद्धम्); तथा एतस्य त्यागः न, ग्रहः न, ज्यः (न)॥२॥

इस घट और आकाश के दृष्टांत से देह और आत्मा के भेद की शंका होती है, तहां कहते हैं कि, वह पूर्वोक्त मैं (आत्मा) समुद्र की समान हूं और प्रपंच तरंगों की समान

है, इस प्रकार का ज्ञान अनुभवसिद्ध है, तिस कारण इस आत्मा का त्याग ग्रहण और लय होना संभव नहीं है ॥२॥

अहंसशुक्तिसंकाशो रूप्यवदिश्वकल्पना ।
इतिज्ञानंतथेतस्य न त्यागोन ग्रहोलयः ॥३॥

अन्वयः- सः अहम् शुक्तिसङ्काशः, विश्वकल्पना रूप्यवत्, इति ज्ञानम् तथा एतस्य, त्यागः न, ग्रहः न, लयः (न) ॥३॥

इस समुद्र और तरंगों के दृष्टांत से आत्मा के विषें विकार की शंका होती है इस शिष्य के संदेह का गुरु समाधान करते हैं कि, जिस प्रकार सीपी के विषें रजत कल्पित होता है इसी प्रकार आत्मा के विषें यह जगत् कल्पित है, इस प्रकार का वास्तविक ज्ञान होनेपर आत्मा का त्याग, ग्रहण और लय नहीं हो सकता है ॥३॥

अहं वा सर्वभूतेषु सर्वभूतान्यथो मयि।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागोन ग्रहो लयः४॥

की अन्वयः सर्वभूतेषु अहम् अथो वा सर्वभूतानि मयि इति ज्ञानम् (अनुभवसिद्धम्); तथा एतस्य त्यागः न, ग्रहः न, लयः (न) ॥ ४॥

तहां शिष्य शंका करता है कि, सीपी और रजतकों जो दृष्टांत दिखाया तिस से तो आत्मा के विषें परिच्छिन्नता अर्थात् एकदेशीपनारूप दोष आता है तहां कहते हैं कि, मैं संपूर्ण प्राणियों के विषें सत्तारूप से स्थित रहता हूं, इस कारण संपूर्ण प्राणी मुझ अधिष्ठानरूप के वि ही स्थित हैं, इस प्रकार का ज्ञान वेदान्तशास्त्र के विषें प्रतिपादन किया है, ऐसा ज्ञान होनेपर आत्मा का त्याग ग्रहण और लय नहीं होता है ॥४॥

इति श्रीमदृष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां भाषाटीकया सहितं शिष्योक्तमुत्तरचतुष्कं नाम षष्ठं प्रकरणं समाप्तम् ॥६॥

=====

अथ सप्तमं प्रकरणम् ७.
भय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्वपोत इतस्ततः ।
भ्रमति सांतवातेन न ममास्त्यसहिष्णुता॥

अन्वयः- अनन्तमहाम्भोधी माये स्वान्तवातेन विश्वपोतः इतस्ततः भ्रमति; मम असहिष्णुता न अस्ति ॥ १॥

पंचम प्रकरण के विषें गुरुने इस प्रकार वर्णन किया कि, लय योग का आश्रय किये बिना सांसारिक व्यवहारों का विक्षेप अवश्य होता है, तिस के उत्तर में षष्ठ प्रकरण

के विषें शिष्यने कहा कि, आत्मा के विषें इष्टअनिष्टभाव तिस कारण आत्मा का त्याग, ग्रहण, लय आदि नहीं होता है, अब इस कथनका ही पांच श्लोकों से विवेचन करते हैं कि, मैं चैतन्यमय. अनंत समुद्र हूं और मेरे विषें संसाररूपी नौ का मनरूपी वायु के वेग से चारों ओर को घूमती है तिस संसाररूपी नौ का के भ्रमण से मेरा मन इस प्रकार चलायमान नहीं होता है, जिस प्रकार नौ का से समुद्र चलायमान नहीं होता है॥ १ ॥

मय्यनन्तमहाम्भोधौजगदीचिःस्वभावतः ।
उदेतु वास्तमायातुन मे वृद्धिर्न च क्षतिः ॥ २ ॥

अन्वयः- अनन्तमहाम्भोधौ मयि स्वभावतः जगद्दीचिः उदेतु; वा अस्तम् आयातु, मे वृद्धिः न क्षतिः च न ॥ २ ॥

.इस प्रकार यह वर्णन किया कि, संसार के व्यवहारों से आत्मा की कोई हानि नहीं होती है और अब यह वर्णन करते हैं कि, संसार की उत्पत्ति और लय से भी आत्मा की कोई हानि नहीं होती है, मैं चैतन्यमय अनंतरूप समुद्र हूं, तिस मेरे (आत्माके) विषें स्वभाव से संसाररूपी तरंग उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं, तिन संसाररूपी तरंगों के उत्पन्न होने से मेरा कोई लाभ नहीं होता है और नष्ट होने से हानि नहीं होती है क्योंकि, में सर्वव्यापी हूं इस कारण मेरी उत्पत्ति नहीं हो सकती है और मैं अनंत हूं इस कारण मेरा लय (नाश) नहीं हो सकता है ॥ २ ॥

मय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्वनाम विकल्पना।
अतिशांतोनिराकार एतदेवाहमास्थितः ॥ ३ ॥

अन्वयः- अनन्तमहाम्भोधौ मयि विश्वम् विकल्पना नाम (अतः) अहम् अतिशान्तः निराकारः एतत् एव मास्थितः (अस्मि) ॥ ३ ॥

इस कहे हुए समुद्र और तरंग के दृष्टांत से आत्मा के विषें परिणामीपने की शंका होती है, तिस शंका की निवृत्ति के अर्थ कहते हैं कि, अनंतसमुद्ररूप जो मैं तिस मेरे विषें जगत् केवल कल्पनामात्र है सत्य नहीं है, इस कारण ही में शांत कहिये संपूर्ण विकाररहित और निराकार तथा केवल आत्मज्ञान का आश्रित हूं ॥ ३ ॥

नात्मा भावेषु नो भावस्तत्रानन्ते निरञ्जने ।
इत्यसक्तोऽस्टह शान्त एतदेवाहमास्थितः४

अन्वयः- मावेषु आत्मा न, अनन्ते निरञ्जने तत्र भावः नो इति माम् मसक्तः भस्पृहः शान्तः एतत् एव आश्रितः (अस्मि)॥ ४ ॥

अब आत्मा की शांतस्वरूपताका ही वर्णन करते हैं कि, देह इंद्रियादि पदार्थों के विषें आत्मपना अर्थात् सत्यपना नहीं है, क्योंकि देहेंद्रियादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं और देह-इंद्रियादिरूप उपाधि आत्मा के विषें नहीं है, क्योंकि आत्मा अनंत और निरंजन है, इस कारण ही इच्छारहित और शांत तथा तत्वज्ञान का आश्रित हूं ॥४॥

अहो चिन्मात्रमेवाहमिंद्रजालोपमं जगत् ।
अतो मम कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना ॥५॥

अन्वयः- अहो अहम् चिन्मात्रम् एव जगत् इन्द्रजालोपमम् अतः मम हेयोपादेयकल्पना कुत्र कथम् (स्यात्) ॥५॥

आत्मा इच्छादिरहित है इस विषय में और हेतु कहते हैं कि, अहो मैं अलौकिक चैतन्यमात्र हूं और जगत इंद्रजाल कहिये बाजीगर के चरित्रों की समान है, इस कारण किसी पदार्थ के विषें मेरे ग्रहण करने की और त्यागने की कल्पना किस प्रकार हो सकती है ? अर्थात् न तो मैं किसी पदार्थ को त्यागता हूं और न ग्रहण करता हूं ॥५॥

इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां । भाषाटीकया सहितमनुभवपञ्चकविवरणं नाम सप्तमं प्रकरणं समाप्तम् ॥७॥

अथाष्टमं प्रकरणम् ८.
व तदाबन्धो यदा चित्तं किञ्चिद्वाञ्छति शोचति ।
किञ्चिन्मुञ्चति गृह्णाति कि-काश्चिद्धृष्यतिकुप्यति ॥ १॥

अन्वयः- यदा चित्तम् किञ्चित् वाञ्छति शोचति किञ्चित् मुञ्चति गृह्णाति किञ्चित् हृष्यति कुप्यति तदा बन्धः भवति ॥ १॥

इस प्रकार छः प्रकरणोंकर के अपने शिष्य की सर्वथा परीक्षा लेकर, बंधमोक्ष की व्यवस्था वर्णन करने के मिष से गुरु अपने शिष्य के अनुभव की चार श्लोकों से प्रशंसा करते हैं कि, हे शिष्य ! तेंने जो कहा कि, मेरे को (आत्माको) कुछ त्याग करना और ग्रहण करना नहीं है सो सत्य है, क्योंकि, जब चित्त किसी वस्तु की इच्छा करता है, किसी वस्तु का शोक करता है, किसी वस्तु का त्याग करता है, किसी वस्तु का ग्रहण करता है, किसी वस्तु से प्रसन्न होता है, अथवा कोप करता है तब ही जीव का बंध होता है॥ १॥

तदा मुक्तिर्यदा चित्तं न वाञ्छति न शोचति।

नमुञ्चतिन गृह्णाति नहष्यति नकुप्यति॥२॥

अन्वय:- यदा चित्तम न वाञ्छति न शोचति न मुञ्चति न हाति न एज्यति न कुष्यति ॥ २॥

जब चित्त इच्छा नहीं करता है, शोक नहीं करता है; किसी वस्तु का त्याग नहीं करता है, ग्रहण नहीं करता है, तथा किसी वस्तु की प्राप्तिसे प्रसन्न नहीं होता है और कारण होनेपर भी कोप नहीं करता है तब ही जीव की मुक्ति होती है ॥२॥

तदा बन्धो यदा चित्तं सक्तं कास्वपि दृष्टिषु ।
तदा मोक्षो यदा चित्तमसक्तं सर्वदृष्टिषु ॥३॥

अन्धय:यदा चित्तम् कासु अपि दृष्टिषु सक्तम् तदा बन्धः, यदा चित्तम् सर्वदृष्टिषु असक्तम् तदा मोक्षः ॥ ३ ॥

इस प्रकार बंध मोक्ष का भिन्न २ वर्णन किया अब दोनों इकट्ठा वर्णन करते हैं, जिस का चित्त आत्मभिन्न किसी भी जड पदार्थ के विषें आसक्त होता है, तब जीव का बंध होता है और जब चित्त आत्मभिन्न संपूर्ण जड पदार्थों के विषें आसक्तिरहित होता है, तब ही जीव का मोक्ष होता है ॥३॥

यदा नाहं तदा मोक्षो यदाह बन्धनं तदा॥
मत्वेतिहेलयाकिञ्चिन्मागृहाणविमुञ्चमा ४॥

अन्वय:- यदा अहम् न तदा मोक्षः, यदा अहम् तदा बन्धनम् इति मत्वा हेलया किञ्चित् मा गृहाण मा विमुञ्च ॥ ४ ॥

संपूर्ण विषयों के विषें चित्त आसक्त न होय ऐसी साधनसंपत्ति प्राप्त होनेपर भी अहंकार दूर हुए बिना
मुक्ति नहीं होती है य ही कहते हैं कि, जबतक मैं देह हूं इस प्रकार अभिमान रहता है तबतक ही यह संसारबंधन रहता है और जब मैं आत्मा हूं, देह नहीं हूं, इस प्रकार का अभिमान दूर हो जाता है, तब मोक्ष होता है. इस प्रकार जानकर व्यवहार दृष्टि से न किसी वस्तु को ग्रहण कर न किसी वस्तु का त्याग कर ॥४॥

॥ इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां भाषाटीकया सहितं गुरुप्रोक्तं बन्धमोक्षव्यवस्था नामाष्टमं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ८॥

=====

अथ नवमं प्रकरणम् ९.

कृताकृतेचदन्द्रानिकदाशान्तानिकस्य वा।

एवं ज्ञात्वेह निर्वेदाद्भवत्यागपरोऽवती॥ १॥

अन्धय:कृताकृते द्वन्द्वानि कस्य कदा वा शान्ता एवम् ज्ञात्वा इह निर्वेदात् त्यागपरः अवती भव ॥ १॥

उपर के प्रकरण के विषें गुरुने कहा कि, " न किसी वस्तु को ग्रहण कर न त्याग कर तहां शिष्य प्रश्न करता है, त्याग की क्या रीति है ? तिस के समाधान में गुरु आठ श्लोकों से वैराग्य वर्णन करते हैं कि, कृत और भकृत अर्थात् यह करना चाहिये, यह नहीं करना
चाहिये, इत्यादि अभिनिवेश और सुखदुःख, शीत, उष्ण आदि द्वंद्व किसी के क भी शांत हुए हैं ? अर्थात् क भी किसी के निवृत्त नहीं हुए. इस प्रकार जानकर इन कृत अकृत और सुखदुःखादि के विषें विरक्ति होने से त्यागपरायण और संपूर्ण पदार्थों के विषें आग्रह का त्यागनेवाला हो ॥ १॥

कस्यापि तात धन्यस्य लोकचेष्टावलो-कनात् ।
जीवितेच्छा बुभुक्षा च बुभुत्सो-पशमं गताः ॥ २॥

अन्वय:- हे तात ! लोकचेष्टावलोकनात् कस्य अपि धन्यस्य जीवितेच्छा बुभुक्षा बुभुत्सा च उपशमम् गताः ॥ २॥

चित्त के धर्मों का त्यागरूप वैराग्य तो किसीको ही होता है, सब को नहीं, यह वर्णन करते हैं, हे शिष्य ! सहस्रों में से किसी एक धन्य पुरुषकी ही संसार की उत्पत्ति और नाशरूप चेष्टा के देखने से जीवन की इच्छा और भोग की इच्छा तथा जानने की इच्छा निवृत्त होती है। ॥ २॥

अनित्यं सर्वमेवेदं तापत्रितयदूषितम् ।
असारंनिन्दितंहेयमितिनिश्चित्यशाम्यति ३
अन्वय:- तापत्रितयदूषितम् इदम् सर्वम् एव अनित्यम् असारम् निन्दितम् हेयम् इति निश्चित्य (ज्ञानी) शाम्यति ॥ ३॥

तहां शिष्य शंका करता है कि, ज्ञानी पुरुषों की जो संपूर्ण विषयों में आसक्ति नष्ट हो जाती है उस में क्या कारण है ? तहां कहते हैं कि, यह संपूर्ण जगत् अनित्य है, चैतन्यस्वरूप आत्मा की सत्ता से स्फुरित होता है, वास्तव में कल्पनामात्र है और आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन तीनों दुःखों से दूषित हो रहा है अर्थात् तुच्छ है, झूठा है, ऐसा निश्चय कर के ज्ञानी पुरुष उदासीनता को प्राप्त होता है ॥ ३॥

कोऽसौ कालो वयः किंवा यत्र द्वन्द्वानि नो नृणाम् ।
तान्युपेक्ष्य यथाप्राप्तवर्ती सिद्धिमवाप्नुयात् ॥४॥

अन्वय:- यत्र नृणाम् द्वन्द्वानि नो (सन्ति) असौ कः कालः किम् वयः तानि उपेक्ष्य यथाप्राप्तवर्ती (सन्) सिद्धिम् अवाप्नुयात् ॥ ४ ॥

अब यह वर्णन करते हैं कि, सुखदुःखादि द्वंद्व तो प्रारब्ध कर्मों के अनुसार अवश्य ही प्राप्त होंगे परंतु तिन सुखदुःखादि के विषें इच्छा और अनिच्छा का त्याग कर के प्रारब्धकर्मानुसार प्राप्त हुए सुखदुःखादि द्वंद्वों को भोगता हुआ मुक्ति को प्राप्त होता है, ऐसा कौनसा काल है कि, जिस में मनुष्य को सुखदुःखादि इंद्रों की प्राप्ति न हो और ऐसी कौनसी अवस्था है कि, जिसमें
मनुष्य को सुख दुःख आदि न हो ? अर्थात् जिस में मनुष्य को सुख दुःखादि नहीं होते हो ऐसा न कोई समय है और न कोई ऐसीअवस्था है.सर्व काल में और सब अवस्थाओं में सुख दुःख तो होते ही हैं ऐसा जानकर तिन सुख दुःखादि के विषें संकल्प विकल्प को त्यागनेवाला पुरुष प्रारब्धकर्मानुसार प्राप्त हुए सुखदुःखादि को आसक्तिरहित भोगकर सिद्धि कहिये मुक्ति को प्राप्त होता है ॥ ४॥

नाना मतं महर्षीणां साधूनां योगिनां तथा ।
दृष्ट्वा निर्वेदमापन्नः को नशाम्यति मानवः ५
अन्वय:- महर्षीणाम् साधूनाम् तथा योगिनाम् नाना मतम् दृष्ट्वा निर्वेदम् आपन्नः कः मानवः न शाम्यति ॥ ५॥

अब इस वार्ता को वर्णन करते हैं कि, तत्वज्ञान के सिवाय अन्यत्र किसी विषयमें भी निष्ठा न करे । ऋषियों के भिन्न २ रीति के नाना प्रकार के मत हैं, तिन में कोई होम करने का उपदेश करते हैं, कोई मंत्र जप करने का उपदेश करते हैं, कोई चांद्रायण आदि व्रतों की महिमा वर्णन करते हैं, तिसी प्रकार साधु कहिये भक्तपुरुषकि भी अनेक भेद और संप्रदाय हैं. जै से कि, शैव शाक्त वैष्णव आदि तथा योगियों के मत भी अनेक प्रकार के हैं, तिस में कोई अष्टांगयोग की साधना करते हैं आर कोई वत्वों की गणना करते हैं इस प्रकार भिन्न २
प्रकार के मत होने के कारण तिन सब को त्यागकर वैराग्य को प्राप्त हुआ कोन पुरुष शांति को नहीं प्राप्त होता है ? किन्तु शांति को प्राप्त होगा ही ॥५॥

कृत्वा मूर्तिपरिज्ञानं चैतन्यस्य न कि गुरुः।
निर्वेदसमतायुक्त्यायस्तारयतिसंसृतेः ॥ ६ ॥

अन्वयः- निर्वेदसमतायुक्त्या चैतन्यस्य मूर्तिपरिज्ञानम् कृत्वा यः न किं गुरुः (सः) संसृतेः तारयति ॥ ६॥

अब यह वर्णन करते हैं कि, कर्मादि का त्याग कर के केवल ज्ञाननिष्ठाका ही आश्रय करना चाहिये, निर्वेद कहिये वैराग्य अर्थात् विषयों के विषें आसक्ति न करना और समता कहिये शत्रुमित्रादि सब के विषें समदृष्टि रखना अर्थात् सर्वत्र आत्मदृष्टि करना तथा युक्ति श्रुतियों के अनुसार शंकाओं का समाधान करना, इन के द्वारा सच्चिदानंदस्वरूप का साक्षात्कार कर के फिर कर्ममार्ग के विषें गुरु का आश्रय न करनेवाला पुरुष अपने आत्मा को तथा औरोंको भी संसार से तार देता है ॥६॥

पश्य भूतविकारांस्त्वं भूतमात्रानयथार्थतः।
तत्क्षणाद्बन्धनिर्मुक्तःस्वरूपस्थो भविष्यसि
अन्वयः- (हे शिष्य !) भूतविकारान् यथार्थतः भूतमात्रान् पश्य (एवम्) त्वम् तत्क्षणात् बन्धनिर्मुक्तः स्वरूपस्थः भविष्यसि ॥७॥

चैतन्यस्वरूप के साक्षात्करने का उपाय कहते हैं कि, हे शिष्य ! भूतविकार कहिये देह इंद्रिय आदि को वास्तव में जड जो पंचमहाभूत तिन का विकार जान आत्मस्वरूप मत जान यदि गुरु, श्रुति और अनुभव से ऐसा निश्चय कर लेगा तो तात्कालहि संसारबंधन से मुक्त होकर शरीर आदि से विलक्षण जो आत्मा तिस आत्मस्वरूप के विषें स्थिति को प्राप्त होयगा, क्योंकि शरीर आदि के विषें आत्मभिन्न जडत्व आदि का ज्ञान होनेपर तिन शरीर आदि का साक्षी जो आत्मा सो शीघ्र ही जाना जाता है ॥७॥

वासना एव संसार इति सर्वा विमुञ्चताः ।
तत्त्यागोवासनात्यागात्स्थितिरद्ययथातथा ८
अन्वयः- संसारः वासनाः एव इति ताः सर्वाः विमुञ्च, वासनात्यागात् तत्त्यागः अद्य स्थितिः तथा यथा ॥ ८ ॥

इस प्रकार आत्मज्ञान होनेपर आत्मज्ञान के विषें निष्ठा होने के लिये वासना के त्याग करने का उपदेश करते हैं कि, विषयों के विषें वासना होना ही संसार है, इस कारण हे शिष्य! तिन संपूर्ण वासनाओं का त्याग कर वासना के त्याग से आत्मनिष्ठा होनेपर तिस संसार का स्वयं त्याग हो जाता है और वासनाओं के त्याग होने पर भी संसार के विषें शरीर की स्थिति प्रारब्ध कर्मों के अनुसार रहती है ॥८॥

ला इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां मा भाषाटीकया सहितं गुरुप्रोक्तं निर्वेदाष्टकं नाम नवमंप्रकरणं समाप्तम् ॥९॥

=====

अथ दशमं प्रकरणम् १०.

विहाय वैरिणं काममर्थ चानथसङ्कुलम् ।
धर्ममप्येतयोहतुं सर्वत्रानादरं कुरु ॥१॥

अन्वयः- वैरिणम् कामम् अनर्थसंकुलम् अर्थम् च (तथा) एतयोः हेतुम् धर्मम् अपि विहाय सर्वत्र अनादरम् कुरु ॥ १॥

पूर्व में विषयों के बिना भी संतोषरूप से वैराग्य का वर्णन किया, अब विषयतृष्णा के त्याग का गुरु उपदेश करते है, हे शिष्य! ज्ञान का शत्रु जो काम तिस का त्याग कर और जिस के पैदा करने में, रक्षा करने में तथा खर्च करने में दुःख होता है ऐसे सर्वथा दुःखों से भरे हुए अर्थ कहिये धन का त्याग कर, तथा काम और अर्थ दोनों का हेतु जो धर्म तिस का भी त्याग कर और तद्वंतर धर्म अर्थ कामरूप त्रिवर्ग के हेतु जो सकाम कर्म तिन के विषें आसक्ति का त्याग कर ॥१॥

स्वप्नेन्द्रजालवत्पश्य दिनानि त्रीणि पंच वा ।
मित्रक्षेत्रधनागारदारदायादिसम्पदः ॥२॥

अन्वयः- (हे शिष्य !) त्रीणि पंच वा दिनानि (स्थायिन्यः) मित्रक्षेत्रधनागारदार मायादिसम्पदः स्वप्नेन्द्रजालवत् पश्य ॥ २ ॥

तहां शिष्य शंका करता है कि, स्त्री, पुत्रादि और अनेक प्रकार के सुख देनेवाले जो कर्म तिन का किस प्रकार त्याग हो सकता है तहां गुरु कहते हैं कि, हे शिष्य ! तीन अथवा पांच दिन रहनेवाले मित्र, क्षेत्र, धन, स्थान, स्त्री और कुटुंबी आदि संपत्तियों को स्वप्न और इंद्रजाल की समान अनित्य जान ॥२॥

यत्रयत्र भवेत्तृष्णा संसारं विद्धि तत्र वै।
प्रौढवैराग्यमाश्रित्य वीततृष्णःसुखीभव ३॥

अन्वयः- वै यत्र यत्र तृष्णा भवेत् तत्र संसारम् विद्धि (तस्मात्) प्रौढवैराग्यम् आश्रित्य वीततृष्णः (सन्) सुखी भव ॥ ३ ॥

अब यह वर्णन करते हैं कि, संपूर्ण काम्यकर्मों में अनादर करना रूप वैराग्य ही मोक्षरूप पुरुषार्थ का कारण है, जहां २ विषयों के विषें तृष्णा होती है तहां ही संसार जान, क्योंकि, विषयों की तृष्णा ही कर्मों के द्वारा संसार का हेतु होती है, तिस कारण दृढ वैराग्य का अवलम्बन करके, अप्राप्त विषयों में इच्छारहित होकर आत्मज्ञान की निष्ठा कर के सुखी हो ॥३॥

तृष्णामात्रात्म को बन्धस्तन्नाशोमोक्ष उच्यते।
भासंसक्तिमात्रेण प्राप्तितुष्टिर्मुहुर्मुहुः ॥४॥

अन्वयः- बन्धः तृष्णामात्रात्मकः तन्नाशः मोक्षः उच्यते, भवासंसक्तिमात्रेण मुहुर्मुहुः प्राप्तितुष्टिः (स्यात्) ॥ ४ ॥

जाउपरोक्त विषयको ही अन्य रीतिसे कहते हैं, हे शिष्य! तृष्णामात्र ही बड़ा भारी बंधन है और तिस तृष्णामात्र का त्याग ही मोक्ष कहाता है, क्योंकि संसार के विषें आसक्ति का त्याग कर के बारंबार आत्मज्ञान से उत्पन्न हुआ संतोष ही मोक्ष कहाता है ॥ ४॥

त्वमेकश्चेतन शुद्धोजडं विश्वमसत्तथा ।
अ-विद्यापि न किञ्चित्सा का बुभुत्सातथापिते ५
अन्वयः- त्वम् एकः चेतनः शुद्धः (आसि) विश्वम् जडम् तथा असत् (अस्ति) अविद्या आपि किंचित् न, तथा ते सा बुभुत्सा अपि का ? ॥ ५॥

तहां शंका होती है कि, यदि तृष्णामात्र ही बंधन है तब तो आत्मप्राप्ति की तृष्णा भी बंधन हो जायगी ? तहां कहते हैं कि, इस संसार में आत्मा, जगत् और अविद्या ये तीन ही पदार्थ हैं, तिन तीनों में आत्मा (तू) तो अद्वितीय, चेतन और शुद्ध है, तिन चैतन्यस्वरूप पूर्णरूप आत्मा के जानने की इच्छा (तृष्णा) बंधन नहीं होता है, क्योंकि आत्मभिन्न जड पदार्थों के विषें इच्छा
करना ही तृष्णा कहाती है क्योंकि जड और अनित्य होने के कारण जगत् के विषें इच्छा करना वंध्यापुत्र की समान मिथ्या है, उस इच्छा से किसी प्रकार की सिद्धि नहीं होती है, तिसी प्रकार माया के जानने की इच्छा (तृष्णा) करना भी निरर्थक ही है, क्योंकि माया सत्रूपकर के अथवा असत्ररूप कर के कहने में नहीं आती है ॥५॥

राज्यं सुताःकलत्राणिशरीराणिसुखानिच ।
संसक्तस्यापिनष्टानितवजन्मनिजन्मनि ॥६॥

अन्वयः- संसक्तस्य अपि तव राज्यम् सुताः कलत्राणि शरीराणि सुखानि च जन्मनि जन्मनि नष्टानि ॥ ६॥

अब संसार की जडता और अनित्यता को दिखाते हैं कि, हे शिष्य ! राज्य, पुत्र, स्त्री, शरीर और सुख इन के विषें तैंने अत्यंत ही प्रीति की तब भी जन्मजन्म में नष्ट हो गये, इस कारण संसार अनित्य है ऐसा जानना चाहिये ॥६॥

अलमर्थेन कामेन सुकृतेनापि कर्मणा।
एभ्यः संसारकान्तारेन विश्रान्तमभून्मनः७
अन्वयः- अर्थेन कामेन सुकृतेन कर्मणा अपि अलम्, (यतः) संसारकान्तारे एभ्यः मनः विश्रान्तम् न अभूत् ॥७॥

अब धर्मअर्थकामरूप त्रिवर्ग की इच्छा का निषेध करते हैं, हे शिष्य! धन के विषे, काम के विषें और सकाम कर्मों के विषे भी कामना न कर के अपने आनन्दस्वरूप के विषें परिपूर्ण रहे, क्योंकि, संसाररूपी दुर्गममार्ग के विषें भ्रमता हुआ मन इन धर्म-अर्थ-काम से विश्राम को कदापि नहीं प्राप्त होयगा तो कदापि संसारबंधन का नाश नहीं होयगा ॥७॥

कृतं न कति जन्मानि कायेन मनसा गिरा।
दुःखमायासदं कर्म तदद्याप्युपरम्यताम्॥८॥

अन्वयः- (हे शिष्य !) आयासदम् दुःखम् कर्म कायेन मनमा गिरा कति जन्मानि न कृतम् तत् अद्य अपि उपरम्यताम्८॥

अब क्रियामात्र के त्याग का उपदेश करते हैं कि, हे शिष्य ! महाक्लेश और दुःखों का देनेवाला कर्मकाय, मन और वाणी से कितने जन्मोंपर्यंत नहीं किया ? अर्थात् अनेक जन्मों में किया, और तिन जन्मजन्म में किये हुए कर्मों से तैंने अनर्थ ही पाया, तिस कारण अब तो तिन कर्मों का त्याग कर ॥८॥

इति श्रीमदष्टावक्रमनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां भाषाटीकया सहितं गुरुप्रोक्तमुपशमाष्टकं नाम दशमं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १०॥

====
अथैकादशं प्रकरणम् ११.

भावाभाविकारश्च स्वभावादिति निश्चयी।
निर्विकारो गतक्लेशः सुखेनैवोपशाम्यति॥१॥

म अन्वयः- भावाभावविकारः स्वभावात् (जायते) इति निश्चयी (पुरुषः) निर्विकारः गतक्लेशः च (सन्) सुखेन एव उपशाम्यति ॥ १॥

पूर्वोक्त शांति ज्ञान से ही होती है अन्यथा नहीं होती है, इस का बोध करने के निमित्त आठ श्लोकों से ज्ञान का वर्णन करते हुए प्रथम ज्ञान के साधनों का वर्णन करते हैं, किसी वस्तु का भाव और किसी वस्तु का अभाव यह जो विकार है सो तो स्वभाव कहिये माया और पूर्वसंस्कार के अनुसार होता है, आत्मा के सकाश से नहीं होता

है ऐसा निश्चय जिस पुरुष को होता है वह पुरुष अनायास से ही शांति को प्राप्त हो जाता है ॥१॥

ईश्वरःसर्वनिर्माता नेहान्य इति निश्चयी॥
अन्तर्गलितसर्वाशःशान्तःक्वापिन सज्जते २
अन्वय:- इह सर्वनिर्माता ईश्वरः, अन्यः न इति निश्चयी (पुरुषः) अन्तर्गलितसर्वाशः शान्तः (सन्) क अपि न सजते ॥२॥

तहां शिष्य शंका करता है कि, माया तो जड है उस के सकाश से भावाभावरूप संसार की उत्पत्ति किस प्रकार हो सकती है ? तिस का गुरु समाधान करते हैं कि, संपूर्ण जगत् रचनेवाला एक ईश्वर है, अन्य जीव जगत् का रचनेवाला नहीं है, क्योंकि जीव ईश्वर के वशीभूत हैं, इस प्रकार निश्चय करनेवाला पुरुष ऐसे निश्चय के प्रभाव से ही दूर हो गई है सब प्रकार की तृष्णा जिस की ऐसा और शांत कहिये निश्चल चित्त होकर कहीं भी आसक्त नहीं होता है ॥२॥

आपदः सम्पदः काले दैवादेवेति निश्चयी।
तृप्तःस्वस्थेन्द्रियो नित्यं न वांछति न शोचति ॥३॥

अन्वयः काले आपदः सम्पदः (च) देवात् एव (भवन्ति । इति निश्चयी तृप्तः (पुरुषः) नित्यम् स्वस्थन्द्रियः (सन्) न वाञ्छति न शोचति ॥ ३ ॥

तहां शंका होती है कि, यदि ईश्वर ही संसार को रचनेवाला है तो किन् ही पुरुषों को दरिद्री करता है, किन् ही को धनी करता है और किन् ही को सुखी करता है तथा किन् ही को दुःखी करता है. इस कारण ईश्वर के विषें वैषम्य और नैर्घण्य दोष आवेगा। तहां कहते हैं कि, किसी समय में आपत्तियें और किसी समय में संपत्तिये ये अपने प्रारब्ध से होती हैं, इस कारण ईश्वर के विषें वैषम्य और नैपुण्यदोष नहीं लग सकता. इस प्रकार निश्चय करनेवाला पुरुष सब प्रकार की तृष्णाओं से रहित और विषयों से चलायमान नहीं हुई हैं इंद्रियें जिस की ऐसा होकर अप्राप्त वस्तु की इच्छा नहीं करता है और नष्ट हुई वस्तु का शोक नहीं करता है ॥३॥

सुखदुःखेजन्ममृत्यू दैवादेवेतिनिश्चयी।
साध्यादशीनिरायासःकुर्वन्नपिनलिप्यते॥४॥

7 अन्वय:- सुखदुःखे, जन्ममृत्यू दैवात् एव (भवन्ति) इति निश्चयी, साध्यादर्शी, निरायासः (पुरुषः कर्माणि) कुर्वन अपि न लिप्यते ॥ ४॥

तहां शिष्य शंका करता है कि, हे गुरो ! पूर्वोक्त निश्चययुक्त पुरुष भी कर्म करता हुआ देखने में आता है सो कैसे हो सकता है ? तिस का गुरु समाधान करते हैं कि, कर्म के फलरूप सुखदुःख और जन्ममृत्यु प्रारध के अनुसार होते हैं, इस प्रकार निश्चयवाला पुरुष ऐसी दृष्टि नहीं करता है कि, अमुक कर्म मुझे करना चाहिये और इस कारण ही कर्म करने में परिश्रम नहीं करता है, और प्रारब्धकर्मानुसार कर्म कर के लिप्त भी नहीं होता है, अर्थात् पापपुण्यरूप फलका
भोगनेवाला नहीं होता है, क्योंकि उस पुरुष को मैं कता हूं, ऐसा अभिमान नहीं होता है ॥४॥

चिन्तयाजायतेदुःखंनान्यथेहेतिनिश्चयी।
तयाहीनःसुखी शान्तःसर्वत्रगलितस्टहः॥

अन्वयः- इह दुःखम् चिन्तया जायते, अन्यथा न इति निश्चयी (पुरुषः) तया हीनः (सन्) सुखी शान्तः सर्वत्र गलितस्पृहः (भवति) ॥५॥

तहां शंका होती है कि, यह कैसे हो सकता है कि, कर्म करके भी पापपुण्यरूप फल का भोक्ता न होता हे ? तहां कहते हैं, इस संसार के विषें दुःखमात्र चिन्ता से उत्पन्न होता है, किसी अन्य कारण से नहीं होता है, इस प्रकार निश्चयवाला चिन्तारहित पुरुष शान्ति तथा सुख को प्राप्त होता है, और उस पुरुष की संपूर्ण विषयों से अभिलाषा दूर हो जाती है ॥५॥

नाहंदेहो न मे देहो बोधोऽहमिति निश्चयी।
कैवल्यमिव संप्राप्तो न स्मरत्यकृतं कृतम्॥

अन्वयः- अहम् देहः न, मे देहः न, (किन्तु) अहम् बोधः इति निश्चयी (पुरुषः) कैवल्यम् संप्राप्तः इव कृतम् अकृतम न स्मरति ॥ ६ ॥

पूर्वोक्त साधनों से युक्त ज्ञानियों की दशा को निरूपण करते हैं कि-मैं देह नहीं हूं तथा मेरा देह नहीं है, किंतु
में ज्ञानस्वरूप हूं, इस प्रकार जिस पुरुष का निश्चय हो जाता है, वह पुरुष ज्ञान के द्वारा अभिमान का नाश होने के कारण मुक्तिदशा को प्राप्त हुए पुरुष की समान कर्म अकर्म का स्मरण नहीं करता है अर्थात् उस के विषें लिप्त नहीं होता है ॥६॥

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तमहमेवेति निश्चयी। निर्विकल्पः शुचिः शान्तःप्राप्ता-प्राप्तविनिर्वृतः॥७॥

अन्वय:- आब्रह्मस्तम्बपर्यंतम् अहम् एव इति निश्चयी (पुरुषः) निर्विकल्पः शुचिः (तथा) शान्तः (सन) प्राप्ताप्राप्त विनिर्वृतः (भवति) ॥ ७॥

ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यंत संपूर्ण जगत् में ही हूं, इस प्रकार निश्चयवाले पुरुष के संकल्प विकल्प नष्ट हो जाते हैं, विषयासक्तरूप मल से रहित हो जाता है, उस पुरुष का महापवित्र जो आत्मा सो प्राप्त और अप्राप्त वस्तु की इच्छा से रहित होकर परम संतोष को प्राप्त होता है ॥७॥

नानाश्चर्यमिदं विश्वं न किञ्चिदिति निश्चयी । निर्वामनः स्फूर्तिमात्रो न किञ्चिदिति शाम्यति ॥८॥

अन्वय:- नानाश्चर्यम् इदम् विश्वम् किञ्चित् न, इति निश्चयी (पुरुषः) निर्वासनः स्फूर्तिमात्रः (सन्) न किञ्चित् इति शाम्यति ॥ ८॥

तहां शंका होती है कि, ज्ञानी के संकल्प, विकल्प स्वयं ही किस प्रकार नष्ट हो जाते हैं अधिष्ठानरूप ब्रह्म का साक्षात्कारज्ञान होनेपर जगत् कल्पित प्रतीत होने लगता है और नानारूपवालाजगत् भी ज्ञान का आत्मस्वरूप ही प्रतीत होता है कि, यह सम्पूर्ण जगत् मेरी (आत्माकी) सत्ता से ही स्फुरित होता है ऐसा निश्चय होते ही ज्ञानी की संपूर्ण वासना नष्ट हो जाती है और चैतन्यस्वरूप हो जाता है और उस को कोई व्यवहार शेष नहीं रहता है, इस कारण शांति को प्राप्त हो जाता है और उसज्ञानी की कार्यकारणरूप उपाधिनष्ट हो जाती है, क्योंकि ज्ञानी को संपूर्ण जगत् स्वप्न की समान भासने लगता है ॥ ८॥

इति श्रीमदष्टावक्रमनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां भाषाटीकया सहितं ज्ञानाष्टकं नामैकादशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ११ ॥

=====

अथ द्वादशं प्रकरणम् १२.

कायकृत्यासहःपूर्वं ततो वाग्विस्तरासहः ।
अथचिंतासहस्तस्मादेवमेवाहमास्थितः ॥ १ ॥

अन्वय:- पूर्वम् कायकृत्यासहः, ततः वाग्विस्तरासहः, अथ चिन्तासहः, तस्मात् अहम् एवम् एव आस्थितः (अस्मि)॥ १ ॥

पूर्व प्रकरण के विषें ज्ञानाष्टक से वर्णन किये हुए विषयको ही शिष्य अपने विषें दिखाता है शिष्य कहता है कि हे गुरो ! प्रयम मैंने आप की कृपा से कायिक क्रियाओं का त्याग किया, तदनंतर वाणी के जपरूप कर्म का त्याग किया इस कारण ही मन

के संकल्पविकल्परूप कर्म का त्याग किया इस प्रकार मैं सब प्रकार के व्यवहारों का त्याग कर के केवल चैतन्यस्वरूप आत्मा का आश्रय कर के स्थित हूं ॥१॥

प्रीत्यभावेन शब्दादेरदृश्यत्वेन चात्मनः ।
विक्षेपैकाग्रहृदय एवमेवाहमास्थितः ॥२॥

अन्वय:- शब्दादेः प्रीत्यभावेन, आत्मनः च अदृश्यत्वेन विक्षेपैकाग्रहृदयः अहम् एवम् एव आस्थितः (अस्मि) ॥२॥

उपरोक्त तीन प्रकार के कायिक आदि व्यापारों के त्यागने में कारण दिखाता है कि नाशवान् फल के उत्पन्न करनेवाले शब्दादि विषयों के विषें प्रीति न होने से और आत्मा के अदृश्य होने से मेरा हृदय तीनों प्रकार के विशेपों से रहित और एकाग्र है, अर्थात् नाशवान् स्वर्गादि फल देनेवाले जप आदि के विषें प्रीति न होने से तो मेरे विषें जपरूप विक्षेप नहीं है और आत्मा अदृश्य है इस
कारण आत्मा ध्यान का विषय नहीं है, इस कारण चिंतारूप मन का विक्षेप भी मेरे विषें नहीं है, इस कारण मैं आत्मस्वरूप कर के स्थित हूं॥२॥

समाध्यासादिविक्षिप्तौ व्यवहारः समाधये।
एवं विलोक्यनियममेवमेवाहमास्थितः॥३॥

अन्वय:- समाध्यासादिविक्षिप्तौ (सत्याम्) समाधये व्यवहारः (भवति), एवम् नियमम् विलोक्य अहम् एवम् एव आस्थितः (अस्मि)॥३॥

तहां शंका होती है कि, किसी प्रकार का विक्षेप न होनेपर भी समाधि के अर्थ तो व्यवहार करना ही पडेगा तिस का समाधान करते हैं कि, यदि कर्तृत्व भोक्तृत्व का अध्यासरूप विक्षेप होता अर्थात् मैं कर्त्ता हूं, मैं भोक्ता हूं इत्यादि मिथ्या अध्यासरूपविषेक्ष यदि होता तो उस की निवृत्ति के अर्थ समाधि के निमित्त व्यवहार करना पडता है; यदि ऐसा अध्यास नहीं होता तो समाधि के निमित्त व्यवहार नहीं करना पडता है, इस प्रकार के नियम को देखकर शुद्ध आत्मज्ञान का आश्रय लेनेवाले मेरे विषें अध्यास न होने के कारण समाधिशून्य में आत्मस्वरूप के विषें स्थित हूं ॥३॥

हेयोपादेयविरहादेवं हर्षविषादयोः।
अभावादद्यहेब्रह्मन्नेवमेवाहमास्थितः ॥ ४॥

अन्वयः हे ब्रह्मन् ! हेयोपादेयविरहात् एवम् हविषादयोः अभावात् अद्य अहम् एवम् एव आस्थितः (अस्मि) ॥४॥

शिष्य कहता है कि, हे गुरो ! मैं तो पूर्णस्वरूप हूं इस कारण किस का त्याग करूं ? और किस का ग्रहण करूं? अर्थात् न मेरे को कुछ त्यागने योग्य है और न कुछ ग्रहण करने योग्य है, इसी प्रकार मेरे को किसी प्रकार का हर्ष शोक भी नहीं है, मैं तो इस समय केवल अत्मस्वरुप के विषें स्थित हूँ॥४॥

आश्रमानाश्रमं ध्यानं चित्तस्वीकृतवर्जनम्।
विकल्पममवीक्ष्यतैरेवमेवाहमास्थितः॥५॥

अन्वयः- आश्रमानाश्रमम् ध्यानम् चित्तस्वीकृतवर्जनम् एतैः एव मम विकल्पम् वीक्ष्य अहम् एवम् एव आस्थितः (अस्मि)॥५॥

मैं मन और बुद्धि से परे हूं, इस कारण मेरे विषें वर्णाश्रम के विषें विहित ध्यान कर्म और संकल्प, विकल्प नहीं हैं, मैं सब का साक्षी हूं ऐसा विचार कर आत्मस्वरूप के विषें स्थित हूं ॥५॥

कर्मानुष्ठानमज्ञानाद्यथैवोपरमस्तथा।
बुद्ध्वासम्यगिदंतत्त्वमेवमेवाहमास्थितः॥६॥

अन्वयः- यथा अज्ञानात् कर्मानुष्ठानम् तथा एव उपरमः (भवति), इदम् तत्त्वम् सम्यक बुद्ध्वा अहम् एवम् एव आस्थितः (अस्मि)॥६॥

जिस प्रकार का कर्मानुष्ठान (कर्म करना) अज्ञान से ही होता है तिस प्रकार कर्म का त्याग भी अज्ञान से ही होता है, क्योंकि आत्मा के विषें त्यागना और ग्रहण करना कुछ भी नहीं बनता है, इस तत्व को यथार्थ रीतिसे जानकर मैं आत्मस्वरूप के विषे ही स्थित हूं ॥६॥

अचिन्त्यं चिन्त्यमानोऽपि चिन्तारूपं भजत्यसौ।
त्यक्त्वा तद्भावनं तस्मादेव-मेवाहमास्थितः॥७॥

अन्वयः- अचिन्त्यम् चिन्त्यमानः अपि असौ चिन्तारूपम् भजति, तस्मात् तद्भावनम् त्यक्त्वा अहम् एवम् एव आस्थितः (अस्मि)॥७॥

अचिंत्य जो ब्रह्म है तिस को चिंतन करता हुआ भी यह पुरुष आत्मचिंतामय रूप को प्राप्त होता है, तिस कारण ब्रह्म के चिंतन का त्याग कर के मैं आत्मस्वरूप के वित्रं स्थित हूं ॥ ७॥

एवमेव कृतं येन स कृतार्थो भवेद्-सौ ।
एवमेव स्वभावो यःस कृतार्थो भवेदसौ॥८॥

अन्वयः- येन एवम् एव कृतम् सः असौ कृतार्थः भवेत्, यः एवम् एव स्वभावः सः असौ कृतार्थः भवेत् ॥ ८॥

जिस पुरुषने इस प्रकार आत्मस्वरूप को साधनों के द्वारा सर्वक्रियारहित किया है वह कृतार्थ है और जो बिना साधनोंके ही स्वभाव से क्रियारहित शुद्ध आत्मस्वरूप के ज्ञानवाला है, उस के कृतार्थ होने में तो कहना ही क्या है॥८॥

इति श्रीमदृष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां भाषाटीकया सहितमेवमेवाष्टकं नाम द्वादशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १२॥

=====

अथ त्रयोदशं प्रकरणम् १३.

अकिञ्चनभवंस्वास्थ्यं कौपीनत्वेऽपिदुर्लभम्।
त्यागादानेविहायास्मादहमासेयथासुखम् १

अन्वयः- कौपीनत्वे अपि अकिञ्चनभवम् स्वास्थ्यम् दुर्लभम् , अस्मात् अहम् त्यागादाने विहाय यथासुखम् आ से ॥ १॥

अब जीवन्मुक्ति अवस्था का फल जो परम सुख तिस का वर्णन करते हैं, संपूर्ण विषयों के विषें आसक्ति का त्याग करने से उत्पन्न होनेवाली चित्त की स्थिरता, कोपीनमात्र में आसक्ति करने से भी नहीं प्राप्त होती है, इस कारण मैं त्याग और ग्रहण के विषें आसक्ति का त्याग कर के सर्वदा सुखरूप से स्थित हूं ॥१॥

कुत्रापि खेदःकायस्य जिह्वा कुत्रापि खिद्यते।
मनः कुत्रापितत्त्यक्त्वा पुरुषार्थेस्थितःसुखं२

अन्वयः- कुत्र अपि कायस्य खेदः (भवति) कुत्र अपि जिह्वा (खिद्यते) कुत्र अपि मनः (खिद्यते) (अतः) तत् त्यक्त्वा सुखम् पुरुषार्थ स्थितः (अस्मि) ॥ २॥

यदि व्रततीर्थादि सेवन करे तो शरीर को खेद होता है और यदि गीताभागवतादि स्तोत्रों का पाठ किया जाय तो जिह्वा को खेद होता है, और यदि ध्यान समाधि की जाय तो मन को खेद होता है, इस कारण मैं इन तीनों दुःखों का त्याग कर के सुखपूर्वक आत्मस्वरूप के वि स्थित हूं ॥२॥

कृतं किमपि नैवस्यादिति सचिन्त्य त-त्त्वतः ।
यदा यत्कर्तुमायाति तत्कृत्वा से यथासुखम् ॥३॥

अन्वयः- कृतम् किम् अपि तत्त्वतः न एव स्यात् इति सञ्चिन्त्य यदा यत् कर्तुम् आयाति तत् कृत्वा यथासुखम् आ से ॥ ३ ॥

वादी शंका करता है कि, वाणी मन और शरीर इन तीनों के व्यापार का त्याग होने से तो तत्काल शरीर का नाश हो जायगा, क्योंकि इस प्रकार के त्याग से अन्नजल का भी त्याग हो जायगा, फिर शरीर किस प्रकार
रह सकेगा ? तिस का समाधान करते हैं, कि शरीर इंद्रियादि से किया हुआ कोई कर्म आत्मा का नहीं हो सकता है, इस प्रकार विचार कर जो कर्म करना पडता है उस कर्म को अहंकाररहित कर के मैं आत्मस्वरूप के विषें सुखपूर्वक स्थित हूं ॥ ३ ॥

कर्मनैष्कर्म्यनिर्बन्धभावा देहस्थयोगिनः।
संयोगायोगविरहादहमा से यथासुखम्॥ ४॥

अन्वयः- कर्मनैष्कर्म्यनिर्वन्धभावाः देहस्थ्ययोगिनः (भवन्ति) अहम् (तु) संयोगायोगविरहात् यथासुखम् आ से ॥ ४ ॥

तहां वादी शंका करता है कि, या कर्ममार्ग में निष्ठा करे या निष्कर्ममार्गमें ही निष्ठा करे एकसाथ दोनों मार्गोंपर चलना किस प्रकार हो सकेगा ? तहां कहते हैं, कर्म और निष्कर्म तौ देह का अभिमान करनेवाले योगीको ही होते हैं और मैं तो देह के संयोग और वियोग दोनों को त्यागकर सुखरूप स्थित हूं ॥४॥

अर्थानौं न मे स्थित्या गत्या न शयनेन वा।
तिष्ठन् गच्छन् स्वपन तस्मादहमा से यथासुखम् ॥५॥

अन्वयः- स्थित्या गत्या (च) मे अर्थानौं न वा शयनेन (च) न तस्मात् तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् यथासुखम् आ से ॥५॥

लौकिक व्यवहार के विषे भी मेरे को अभिमान नहीं है, क्योंकि स्थिति, गति तथा शयन आदि से मेरा कोई हानि, लाभ नहीं होता है, इस कारण मैं खडा रहूं वा चलता रहूं अथवा शयन करता रहूं तो उस में मेरी आसक्ति नहीं होती है, क्योंकि मैं तो सुखपूर्वक आत्मस्वरूप के विषें स्थित हूं ॥५॥

स्वपतो नास्ति मे हानिः सिद्धिर्यत्नवतो न-वा।
नाशोल्लासौ विहायास्मादहमा से यथा-सुखम् ॥ ६ ॥

अन्वयः- मे स्वपतः हानिः न अस्ति यत्नवतः वा सिद्धिः न (अस्ति); अस्मात् नाशोल्लासौ विहाय अहम् यथासुखम् आसे॥ ६ ॥

संपूर्ण प्रयत्नों को त्याग कर के शयन करूं तो मेरी किसी प्रकार की हानि नहीं है और अनेक प्रकार के उद्यम करूं तो मेरा किसी प्रकार का लाभ नहीं है, इस कारण त्याग और संग्रह को छोडकर मैं सुखपूर्वक आत्मस्वरूप के विषें स्थित हूं ॥६॥

सुखादिरूपानियमं भावेष्वालोक्यभूरिशः ।
शुभाशुभेविहायास्मादहमासेयथासुखम् ७॥

अन्वयः- मावेषु भूरिशः सुखादिरूपानियमम् आलोक्य अस्मात् अहम् शुभाशुभे विहाय यथासुखम् आ से ॥ ७॥

भाव जो जन्म तिन के विषें अनेक स्थानों में सुखदुःखादि धर्मों की अनित्यता को देखकर और इस कारण ही शुभ और अशुभ कर्मों को त्यागकर मैं सुखपूर्वक आत्मस्वरूप के विषें स्थित हूं ॥७॥

इति श्रीमदष्टावक्रानिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां भाषाटीकया सहितं यथासुखसप्तकं नाम त्रयोदशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १३॥

=====

अथ चतुर्दशं प्रकरणम् १४.

प्रकृत्या शून्यचित्तोयःप्रमादाद्भावभावनः ॥

निद्रितोबोधित इव क्षीणसंसरणो हि सः १॥

अन्वयः- प्रकृत्या शून्यचित्तः प्रमादात् भावभावनः यः निद्रितः इव बोधितः (भवति) सः हि क्षीणसंसरणः ॥ १॥

अब शिष्य अपनी सुखरूप अवस्था का वर्णन करता है कि, अपने स्वभाव से तो चित्त के धर्मों से रहित है और बुद्धि के द्वारा प्रारब्धकमों के वशीभूत होकर अज्ञान के कारण संकल्पविकल्प की भावना करता है, जिस प्रकार कोई पुरुष सुखपूर्वक शयन करता होय उस को कोई पुरुष जगाकर काम करावे तो वह काम उस पुरुष के मन की इच्छा के अनुसार नहीं होता है, किंतु अन्य
पुरुष के वशीभूत होकर कार्य करता है वास्तव में उस का चित्त कार्य के संकल्पविकल्प से रहित होता है तिसी प्रकार प्रारब्धकर्मानुसार संकल्पविकल्प करनेवाले पुरुष का चित्त विषयों से शान्त अर्थात् संसाररहित होता है ॥१॥

कधनानि व मित्राणिक मे विषयदस्यवः ।
कशास्त्रं क च विज्ञानं यदा मे गलितास्टहार

अन्वयः- यदा मे स्पृहा गलिता (तदा) मे धनानि व, मित्राणि क, विषयदस्यवः क्व, शास्त्रम् क्व, विज्ञानम् च क्व ॥ २॥

विषयवासना से रहित पूर्णरूप जो मैं हूं तिस मेरी यदि इच्छा नष्ट हो गई तो फिर मेरे धन कहां, मित्रवर्ग कहां, विषयरूप लुटेरे कहां और शास्त्र कहां अर्थात् इन में से किसी वस्तु भी मेरी आसक्ति नहीं रहतीहै॥२॥

विज्ञाते साक्षिपुरुषे परमात्मनिचेश्वरे।
नैराश्येबन्धमोक्षेचन चिन्ता मुक्तये मम ॥३॥

अन्वयः- साक्षिपुरुषे परमात्मनि ईश्वरे च विज्ञाते बन्धमोक्षेच नैराश्ये (सति) मम मुक्तये चिन्ता न ॥ ३ ॥

देह, इंद्रिय और अंतःकरण के साक्षी सर्वशक्तिमान परमात्मा का ज्ञान होनेपर पुरुष को बंध तथा मोक्षकी
आशा नहीं होती है और मुक्ति के लिये भी चिंता नहीं होती है ॥३॥

अन्तर्विकल्पशून्यस्य बहिःस्वच्छन्द-चारिणः।
भ्रान्तस्येव दशास्तास्तास्ताह-शा एव जानते ॥४॥

अन्वयः- अन्तर्विकल्पशून्यस्य भ्रान्तस्य इव बहिःस्वच्छन्दचारिणः (ज्ञानिनः) ताः ताः दशाः तादृशाः एव जानते ॥ ४ ॥

अंतःकरण के विषें संकल्पविकल्प से रहित और बाहर भ्रांत (पागल) पुरुष की समान स्वच्छंद होकर विचरनेवाले ज्ञानी की तिन तिन दशाओं को तै से ही ज्ञानी पुरुष जानते हैं ॥४॥

इति श्रीमदष्टावक्रगीतायां ब्रह्मविद्यायां भाषाटीकया सहितं शांतिचतुष्टयं नाम चतुर्दशं प्रकरणं समाप्तम् ॥१४॥

=====

अथ पञ्चदशं प्रकरणम् १५.
यथातथोपदेशेन कृतार्थःसत्वबुद्धिमान्॥
आजीवमपिजिज्ञासुः परस्तत्र विमुह्यति॥१॥

अन्वयः- सत्वबुद्धिमान (शिष्यः) यथा तथा उपदेशेन कृतार्थः (भवति), परः आजीवम् जिज्ञासुः अपि तत्र विमुह्यति ॥ १ ॥

यद्यपि गुरुने शिष्य के अर्थ पहिले आत्मतत्व का उपदेश किया है तथा शास्त्र में ऐसा नियम है कि, कठिन से जानने योग्य होने के कारण शिष्यों के अर्थ आत्मतत्व का बारंबार उपदेश करना चाहिये और छान्दोग्य उपनिषद् के विषें गुरुने शिष्य के अर्थ बारंबार आत्मतत्व का उपदेश किया है, इस कारण गुरु फिर भी शिष्य के अर्थ आत्मतत्व का उपदेश करते हुए प्रथम ज्ञान के अधिकारी और अनधिकारी का वर्णन करते हैं कि, जिस की बुद्धि सात्वि की होती है वह शिष्य यथाकथंचित् उपदेश श्रवण करके भी कृतार्थ हो जाता है, इस कारण ही सत्ययुग के विषें केवल एक अक्षर ब्रह्म जो ॐ कार तिसके ही उपदेशमात्र से अनेक शिष्य कृतार्थ होगये अर्थात् ज्ञान को प्राप्त होगये और जिन की तामसी बुद्धि होती है, उन को मरणपर्यंत उपदेश करो तब भी उन को आत्मस्वरूप का ज्ञान नहीं होता है, किंतु महामोह में पड़े रहते हैं, प्रह्लादजी का पुत्र विरोचन दैत्य था उन को ब्रह्माजीने अनेक बार उपदेश किया, तो भी वह महामोहयुक्त ही रहा, क्योंकि वह तामसी बुद्धिवाला था ॥१॥

मोक्षो विषयवैरस्य बन्धो वैषयि को रसः ।
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु ॥२॥

अन्वयः- विषयवैरस्यम् मोक्षः, वैषयिकः रसः बन्धः विज्ञानम् एतावत् एव; यथा इच्छसि तथा कुरु ॥ २॥

अब बंध और मोक्ष का स्वरूप दिखाते हैं कि, विषयों के विषें आसक्ति न करना य ही मोक्ष है और विषयों में प्रति करना य ही बंधन है, इतना ही गुरु और वेदांत के वाक्यों से जानने योग्य है, इस कारण हे शिष्य ! जैसी तेरी रुचि हो वैसा कर ॥२॥

वाग्मिप्राज्ञमहोद्योगंजनं मूकजडालसम् ।
करोतितत्त्वबोधोऽयमतस्त्यक्तो बुभुक्षुभिः३
अन्वयः- अयम् तत्त्वबोधः वाग्मिप्राज्ञमहोद्योगम् जनम् मूकजडालसम् करोति अतः बुभुक्षुभिः त्यक्तः ॥ ३॥

अब इस बात का वर्णन करते हैं कि, तत्वज्ञान के सिवाय किसी अन्य से विषयासक्ति का नाश नहीं हो सकता है, यह प्रसिद्ध तत्वज्ञान वाचाल पुरुष को मूक (गूंगा) कर देता है, पण्डित को जड कर देता है, परम उद्योगी पुरुषको भी आलसी कर देता है, क्योंकि, मन के प्रत्यगात्मा के विषें लगने से ज्ञानी की वाणी मन और शरीर की वृत्तिये नष्ट हो जाती हैं इस कारण ही विषयभोग की लालसा करनेवाले पुरुषोंने आत्मज्ञान का अनादर कर रखा है ॥३॥

न त्वं देहो न ते देहो भोक्ता कर्ता न वा भवान् ।
चिद्रूपोऽसि सदा साक्षीनिरपेक्षः सुखं चर॥४॥

अन्वयः- हे शिष्य ! त्वम् देहः न, (तथा) ते देहः न, भवान् कर्ता वा भोक्ता न, (यतः) (भवान्) चिद्रूपः सदा साक्षी असि, (अतः) निरपेक्षः (सन्) सुखं चर ॥ ४ ॥

अब तत्वज्ञान की प्राप्ति के अर्थ उपदेश करते हैं कि, हे शिष्य ! तू देहरूप नहीं है तथा तेरा देह नहीं है क्योंकि तू चैतन्यरूप है तिसी प्रकार तू कर्मों का करनेवाला तथा कर्मफल का भोगनेवाला नहीं है, क्योंकि कर्म करना और फल भोगना यह मन और बुद्धि के धर्म हैं और तू तो मन और बुद्धि से भिन्न साक्षीमात्र इस प्रकार है जिस प्रकार घट का देखनेवाला घट से भिन्न होता है, इस कारण हे शिष्य ! देह के संबंधी जोस्त्रीपुत्रादि तिन से उदासीन होकर सुखपूर्वक विचर ॥४॥

रागद्वेषौ मनोधर्मौ न मनस्ते कदाचन ।
निर्विकल्पोऽसि बोधात्मानिर्विकारः सुखं चर ॥५॥

अन्वयः- रागद्वेषौ मनोधर्मौ (भवतः) मनः ते (सम्बन्धि) कदाचन न (भवति), (यतः त्वम्) निर्विकल्पः बोधात्मा असि, (अतः) निर्विकारः (सन्) सुखं चर ॥ ५ ॥

हे शिष्य ! राग और द्वेष आदि मन के धर्म हैं तेरे नहीं हैं और तेरा मन के साथ कदापि संबंध नहीं है, क्यों कि तू संकल्पविकल्परहित ज्ञानस्वरूप है, इस कारण तू रागादिविकाररहित होकर सुखपूर्वक विचर ॥५॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
विज्ञायनिरहंकारोनिर्ममस्त्वं सुखीभव ॥६॥

अन्वयः- सर्वभूतेषु च आत्मानम् सर्वभूतानि च आत्मनि विज्ञाय त्वम् निरहंकारः निर्ममः (सन्) सुखी भव ॥ ६॥

आत्मा संपूर्ण प्राणियों के विषें कारणरूप से स्थित है, और संपूर्ण प्राणी आत्मा के विषें अध्यस्त हैं इस प्रकार जानकर ममता और अहंकाररहित सुखपूर्वक स्थित हो ॥६॥

विश्व स्फुरति यत्रेदं तरङ्गा इव सागरे।
तत्त्वमेव न सन्देहश्चिन्मूत विज्वरो भव ॥७॥

अन्वयः- यत्र इदम् विश्वम् सागरे तरङ्गा इव स्फुरति, तत् त्वम् एव (अत्र) सन्देहः न, (अतः) हे चिन्मूत ! (त्वम्) विज्वरः भव ॥ ७॥

जिस प्रकार समुद्र के विषें जो तरंग हैं वे कल्पित और अनित्य हैं, तिसी प्रकार जिस आत्मा के विषें यह विश्व कल्पित है वह तू ही है, इस में कुछ संदेह नहीं
है, इस कारण हे चैतन्यरूप शिष्य ! तू संपूर्ण सन्तापरहित हो ॥७॥

श्रद्धस्व तात श्रद्धस्व नात्र मोहं कुरुष्व भोः।
ज्ञानस्वरूपोभगवानात्मा त्वं प्रकृतेःपरः॥८॥

अन्वयः- भोः तात ! श्रद्धस्व श्रद्धस्व, अत्र मोहम् न कुरुष्व (यतः) त्वम् ज्ञानस्वरूपः भगवान् प्रकृतेः परः आत्मा (असि) ॥ ८ ॥

हे तात ! गुरु और वेदान्त के वचनोंपर विश्वास कर, विश्वास कर, आत्मा की चेतनस्वरूपता के विषय में मोह कहिये संशयविपर्ययस्वरूप अज्ञान मत कर, क्योंकि तू ज्ञानस्वरूप, सर्वशक्तिमान, प्रकृतिसे पर आत्मस्वरूप है ॥८॥

गुणैः संवेष्टितो देहस्तिष्ठत्यायाति याति च ।
आत्मा न गन्ता नागन्ता किमेनमनुशोचसि॥९॥

अन्वयः- गुणैः संवोष्टतः देहः तिष्ठति आयाति याति च आत्मा न गन्ता न आगन्ता (अतः) एनम् किम् अनुशोचसि ॥ ९॥

गुण कहिये इंद्रिय आदि से वेष्टित देह ही संसार के विषें रहता है, आता है और जाता है और आत्मा तो न जाता न आता है, इस कारण मैं जाऊंगा, मेरा मरण होगा इत्यादि देह के धर्मों से आत्मा के विषें शोक मत कर, क्योंकि आत्मा तो सर्वव्यापी और नित्यस्वरूप है॥९॥

देहस्तिष्ठतु कल्पान्तं गच्छत्वचैव वा पुनः।
व वृद्धिःक्व च वा हानिस्तव चिन्मात्ररूपिणः॥१०॥

अन्वयः- देहः कल्पान्तम् तिष्ठतु वा पुनः अद्य एव गच्छतु; चिन्मात्ररूपिणः तव क्व हानिः वा क्व च वृद्धिः ॥ १० ॥

हे शिष्य ! यह देह कल्पपर्यंत स्थित रहे, अथवा अब ही नष्ट हो जाय तो उस से तेरी न हानि होती है और न वृद्धि होती है, क्योंकि तू तो केवल चैतन्यस्वरूप है॥१०॥

त्वय्यनन्तमहाम्भोधौविश्ववीचिःस्वभावतः ।
उदेतुवास्तमायातुनतेवृद्धिर्नवाक्षतिः॥११॥

अन्वयः- अनन्तमहाम्भोधौ त्वयि स्वभावतः विश्ववीचिः उदेतु वा अस्तम् आयातु ते वृद्धिः न वा क्षतिः न ॥ ११ ॥

हे शिष्य ! तू चैतन्य अनंतस्वरूप है और जिस प्रकार समुद्र के विषें तरंग उत्पन्न होती हैं और लीन हो जाती हैं, तिस प्रकार तेरे (आत्माके) विषें स्वभाव से संसार की उत्पत्ति और लय हो जाता है, तिस से तेरी किसी प्रकार की हानि अथवा वृद्धि नहीं है ॥ ११ ॥

तातचिन्मात्ररूपोऽसिन ते भिन्नमिदंजगत् ।
अतःकस्यकथंकुत्रहेयोपादेयकल्पना॥१२॥

अन्वयः- हे तात ! (त्वम्) चिन्मात्ररूपः असि, इदम् जगत् ते भिन्नम् न, अतः हेयोपादेयकल्पना कस्य कुत्र कथम् (स्यात्) ॥ १२॥

हे शिष्य ! तू चैतन्यमात्रस्वरूप है, यह जगत् तुझ से भिन्न नहीं है, इस कारण त्यागना और ग्रहण करना कहां बन सकता है और किस का हो सकता है और किस में हो सकता है ॥ १२॥

एकस्मिन्नव्ययेशान्तेचिदाकाशेऽमलेत्वयि ।
कुतोजन्मकुतोकमकुतोऽहङ्कारएवच ॥ १३॥

अन्वयः- एकस्मिन् अव्यये शान्ते चिदाकाशे अमले त्वयि जन्म कुतः कर्म कुतः, अहङ्कारः च एव कुतः ॥ १३ ॥

हे शिष्य ! तू अविनाशी, एक, शांत, चैतन्याकाशस्वरूप और निर्मलाकाशस्वरूप है, इस कारण तेरा जन्म नहीं होता है तथा तेरे विषें अहंकार होना भी नहीं घट सकता है, क्योंकि कोई द्वितीय वस्तु होय तो अहंकार होता है, तथा तेरे विषें जन्म होना भी नहीं बन सकता है, क्योंकि अहंकार के बिना कर्म नहीं होता है, इस कारण तू शुद्धस्वरूप है ॥ १३॥

यत्त्वं पश्यसि तत्रैकस्त्वमेव प्रतिभास से । किं पृथक् भासते स्वर्णात्कटकांगदनूपुरम् ॥ १४॥

अन्वयः- यत् त्वम् पश्यसि तत्र त्वम् एव एकः प्रतिभाससे; कटकाङ्गदनूपुरम् किम् स्वर्णात् पृथक् भासते ॥ १४॥

जिस प्रकार कटक, बाजूबंद और नूपुर आदि आभूषणों के विषें एक सुवर्ण ही भासता है, तिसी प्रकार जिस २ कार्य को तू देखता है तिस २ कार्य के विषें एक कारण स्वरूप तू ही (आत्मा ही) भासता है ॥१४॥

अयं सोऽहमयं नाहं विभागमिति सन्त्यज।
सर्वमात्मेति निश्चित्य निःसंकल्पःसुखीभव ॥१५॥

अन्वयः- सः अयम् अहम्, अयम् अहम् न इति विभागम् संत्यज, (तथा) सर्वम् आत्मा इति निश्चित्य निःसंकल्पः (सन्) सुखी भव ॥ १५॥

यह जो संपूर्ण देह आदि पदार्थ हैं तिन का मैं साक्षी हूं और मैं देह, इंद्रिय आदिरूप नहीं हूं अथवा यह मैं हूं और यह मैं नहीं हूं, इस भेद का त्याग कर और संपूर्ण जगत् आत्मा ही है ऐसा निश्चय करके, सम्पूर्ण संकल्प विकल्पों को त्यागकर सुखी हो ॥१५॥

तवैवाज्ञानतो विश्वं त्वमेकः परमार्थतः।
त्वत्तोऽन्यो नास्ति संसारी नसंसारीच कश्चन ॥ १६॥

अन्वयः-विश्वम् तव अज्ञानतः एव (भवति), परमार्थतः त्वम् एकः (एव अतः) संसारी त्वत्तः अन्यः न अस्ति; असं. सारी च कश्चन (त्वत्तः अन्यः) न (अस्ति)॥ १६ ॥

हे शिष्य ! तेरे अज्ञान से ही विश्व भासता है, वास्तव में संसार कोई नहीं है, परमार्थस्वरूप अद्वितीय तू एक ही है, इस कारण ही तुझ से अन्य कोई संसारी अथवा असंसारी नहीं है ॥ १६॥

भ्रान्तिमात्रमिदं विश्वं न किञ्चिदिति निश्चयी ।
निर्वासनःस्फूर्तिमात्रो न किञ्चिदिव शाम्यति॥ १७॥

अन्वयः- इदम् विश्वम् भ्रान्तिमात्रम् किञ्चित् न, इति निश्चयी (परुषः) निर्वासनः स्फूर्तिमात्रः (सन्) न किञ्चित शाम्यति ॥ १७ ॥

यह विश्व भांतिमात्र से कल्पित है, वास्तव में किंचिन्मात्र भी सत्य नहीं है, इस प्रकार जिस को निश्चय हुआ है वह पुरुष वासनारहित और प्रकाशस्वरूप होकर केवल चैतन्यस्वरूप के विषें शान्ति को प्राप्त होता है ॥ १७॥

एक एव भवाम्भोधावासीदस्ति भविष्यति। नतेबन्धोऽस्ति मोक्षो वा कृतकृत्यःसुखं चर ॥१८॥

अन्वयः- भवाम्भोधौ एकः एव आसीत्, अस्ति भविष्यति, (अतः) ते बन्धः वा मोक्षः न अस्ति (अतः त्वम्) कृतकृत्यः (सन्) सुखं चर ॥ १८॥

भूत भविष्यत् और वर्तमानरूप त्रिकालमें भी इस संसारसमुद्र के विषें तू ही था और तू ही है तथा तू ही होगा अर्थात् इस संसार के विषें सदा एक तू ही रहा है, इस कारण तेरा बंध और मोक्ष नहीं है, सो कृतार्थ हुआ तू सुखपूर्वक विचर ॥ १८॥

मा सङ्कल्पविकल्पाभ्यां चित्तं क्षोभय चिन्मय ।
उपशाम्य सुखं तिष्ठ स्वात्मन्यानन्दविग्रहे ॥ १९॥

अन्वयः- (हे शिष्य !) चिन्मय ! सङ्कल्पविकल्पाभ्याम् चित्तम् मा क्षोभय उपशाम्य आनन्दविग्रहे स्वात्मनि सुखम् तिष्ठ ॥ १९॥

हे शिष्य ! तू चैतन्यस्वरूप है, संकल्प और विकल्पों से चित्त को चलायमान मत कर, किंतु चित्त को संकल्पविकल्पों से शांत कर के आनंदरूपआत्मस्वरूप के विषें सुखपूर्वक स्थित हो ॥ १९॥

त्यजैव ध्यानं सर्वत्र मा किञ्चिद्धृदि धारय ॥

आत्मा त्वं मुक्त एवासि किं विमृश्य करिष्यसि ॥२०॥

अन्वयः- सर्वत्र एव ध्यानम् त्यज, हृदि किञ्चित् अपि मा धारय , आत्मा त्वम् मुक्तः एव असि, (अतः) विमृश्य किम् करिष्यसि ॥२०॥

हे शिष्य.! सर्वत्र ही ध्यान का त्याग कर, कुछ भी संकल्प विकल्प हृदय के विषेधारण मत कर, क्योंकि आत्मरूप तू सदा मुक्त ही है, फिर विचार (ध्यान) कर के और क्या फल प्राप्त करेगा॥२०॥

इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां भाषाटीकया सहितं तत्त्वोपदेशविंशतिकं नाम पञ्चदशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १९॥

=====

अथ षोडशं प्रकरणम् १६.

आचक्ष्व शृणु वातात नानाशास्त्राण्यनेकशः।
तथापि न तव स्वास्थ्यंसर्वविस्मरणादृते॥१॥

अन्वयः- हे तात ! नानाशास्त्राणि अनेकशः आचक्ष्व वा शृणु तथापि सर्वविस्मरणात् ऋते तव स्वास्थ्यम् न स्यात् ॥ १॥

तत्वज्ञान के उपदेश से जगत् को आत्मस्वरूप से देखना और तृष्णा का नाश करना ही मुक्ति कहाती है, यह विषय वर्णन करते हैं, हे शिष्य ! तू नाना प्रकार के शास्त्रों को अनेक बार अन्य पुरुषों के अर्थ उपदेश कर अथवा अनेक बार श्रवण कर

परंतु सब को भूले बिना अर्थात् संपूर्ण वस्तु के भेद का त्याग किये बिना स्वस्थता अर्थात मुक्ति कदापि नहीं होगी किंतु संपूर्ण वस्तुओं में भेद दृष्टि का त्याग करने से ही मोक्ष होगा। तहां शिष्य शंका करता है कि, सुषुप्ति अवस्था के विषें किसी वस्तु का भी भान नहीं होता है इस कारण सुषुप्ति अवस्था में संपूर्ण प्राणियों का मोक्ष हो जाना चाहिये। इस शंका का गुरु समाधान करते हैं कि सुषुप्ति में संपूर्ण वस्तुओं का भान तो नहीं रहता है परंतु एक अज्ञान का भान तो रहता है, इस कारण मोक्ष नहीं होता है और जीवन्मुक्त का तो अज्ञानसहित जगन्मात्र का ज्ञान नहीं रहता है, इस कारण उस का मुक्ति हुइहा समझना चाहिय॥ १॥

भोगं कर्म समाधि वा कुरु विज्ञ तथापि ते।
चित्तं निरस्तसर्वाशमत्यर्थरोचयिष्यति॥ २॥

अन्वय:- हे विज्ञ ! (त्वम्) भोगम् कर्म वा समाधिम् कुरु तथापि ते चित्तम् अत्यर्थम् निरस्तसर्वाशम् रोचयिष्यति ॥ २॥

हे शिष्य ! तू ज्ञानसंपन्न होकर विषयभोग कर अथवा सकाम कर्म कर अथवा समाधि को कर तथापि संपूर्ण वस्तुओं के विस्मरण से सब प्रकार की आशा से रहित तेरा चित्त आत्मस्करूप के वि ही अधिक रुचि को उत्पन्न करेगा ॥ २॥

आयासात्सकलो दुःखी नैनं जानाति कश्चन ।
अनेनैवोपदेशेन धन्यः प्राप्नोति निर्वृतिम् ॥ ३॥

अन्वय:- सकल: आयासात् दुःखी (भवति), (परन्तु) एनम् कश्चन न जानाति; अनेन उपदेशेन एव धन्यः निर्वृतिम् मामोति ॥ ३ ॥

प्राणिमात्र विषय के परिश्रम से दुःखी होते हैं परंतु कोई इस वार्ता को नहीं जानता। क्योंकि विषयानंद के विषें निमग्न होता है, जो भाग्यवान् पुरुष होता है वह सद्गुरु से इस उपदेश को ग्रहण कर के परम सुख को प्राप्त होता है॥ ३॥

व्यापारेखिद्यते यस्तु निमेषोन्मेषयोरपि ।
तस्यालस्यधुरीणस्थ सुखं नान्यस्य कस्यचित् ॥४॥

अन्वय:- यः तु निमेषोन्मेषयोः अपि व्यापारे खिद्यते आलस्यधुरीणस्य तस्य (एव) सुखम् (भवति), अन्यस्य कस्यचित् न॥ ४॥

जो पुरुष नेत्रों के निमेष उन्मेष के व्यापार में अर्थात् नेत्रों के खोलनेमूंदनमें भी परिश्रम मानकर दुःखित होता है, इस परम आलसीको ही अर्थात् उस निष्क्रिय पुरुषको ही परम सुख मिलता है, अन्य किसीको ही नहीं॥ ४॥

इदं कृतमिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तं यदा मनः।
धर्मार्थकाममोक्षेषु निरपेक्षं तदा भवेत् ॥५॥

अन्वयः- इदम् कृतम्, इदम् न (कृतम्), इति द्वन्द्वैः यदा मनः मुक्तम् (भवति) तदा धर्मार्थकाममोक्षेषु निरपेक्षम् भवेत् ॥ ५॥

जिस के मन का द्वैतभाव नष्ट हो जाय अर्थात् यह कार्य करना चाहिये, यह नहीं करना चाहिये, यह विधिनिषेधरूपी इन्द्र जिस के मन से दूर हो जाय, वह पुरुष धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारोंमें भी इच्छा न करे, क्योंकि वह पुरुष जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है ॥५॥

विरक्तो विषयद्वेष्टा रागी विषयलोलुपः ।
ग्रहमोक्षविहीनस्तु न विरक्तो नरागवान्॥ ६ ॥

अन्वयः- विरक्तः विषयद्वेष्टा (भवति), रागी विषयलोलुपः (भवति) ग्रहमोक्षविहीनः तु न विरक्तः (भवति) न रागवान (भवति) ॥ ६ ॥

जो पुरुष विषय से द्वेष करता है वह विरक्त कहाता है और जो विषयों में अतिलालसा करता है वह रागी (कामुक) कहाता है, परंतु जो ग्रहण और मोक्ष से रहित ज्ञानी होता है, वह न विषयों से द्वेष करता है, और न विषयों से प्रीति करता है अर्थात् प्रारब्धयोगानुसार जो प्राप्त होय उस का त्याग नहीं करता है और अप्राप्त वस्तु के मिलने की इच्छा नहीं करता है इस कारण जीवन्मुक्त पुरुष विरक्त और रागी दोनों से विलक्षण होता है ॥ ६ ॥

हेयोपादेयता तावत्संसारविटपांकुरः।
स्टहा जीवति याव? निर्विचारदशास्पदम्॥ ७ ॥

अन्वयः- निर्विचारदशास्पदम् स्पृहा यावत् जीवति तावत् वै हेयोपादेयता संसारविटपांकुरः (भवति) ॥ ७ ॥

तहां शंका होती है कि, ज्ञानियों के विषें तो त्याग और ग्रहण का व्यवहार देखने में आता है । तहां कहते हैं कि जिस समयपर्यंत अज्ञानदशा के निवास करने का स्थानरूप इच्छा रहती है तिस समयपर्यंत ही पुरुष का ग्रहण करना और त्यागनारूप संसाररूपी वृक्ष का अंकुर रहता है और ज्ञानियों का तो इच्छा न होने के कारण त्यागना और ग्रहण करना देखने मात्र होते हैं ॥७॥

प्रवृत्तौ जायते रागो निवृत्तौ द्वेष एव हि।
निर्द्वन्द्वो बालवद्धीमानेवमेव व्यवस्थितः॥८॥

अन्वय:- हि प्रवृत्तौ रागः, निवृत्तौ एव द्वेषः जायते (अतः) धीमान् बालवत् निर्द्वन्द्वः (सन्) एवम् एव व्यवस्थितः भवेत् ८
यदि विषयों में प्रीति करे तो प्रीति दिनपर दिन बढती जाती है और विषयों से द्वेषपूर्वक निवृत्त होय
तो दिनपर दिन विषयों में द्वेष होता जाता है; इस कारण ज्ञानी पुरुष शुभ और अशुभ के विचाररहित जो बालक तिस की समान रागद्वेषरहित होकर संगपूर्वक जो विषयों में प्रवृत्ति करना और द्वेषपूर्वक जो विषयों से निवृत्त होना इन दोनों से रहित होकर रहे और प्रारब्धकर्मानुसार जो प्राप्त होय उस में प्रवृत्त होय और अप्राप्ति की इच्छा न करे ॥८॥

हातुमिच्छति संसारं रागीदुःखजिहासया।
वीतरागोहि निर्मुक्तस्तस्मिन्नपि न खिद्यति ॥९॥

अन्वय:- रागी दुःखजिहासया संसारम् हातुम् इच्छति; हि वीतरागः निर्मुक्तः (सन्) तस्मिन् अपि न खिद्यति ॥ ९ ॥

जो विषयासक्त पुरुष है वह अत्यंत दुःख भोगने के अनंतर, दुःखों के दूर होने की इच्छा कर के संसार को त्याग करने की इच्छा करता है और जो वैराग्यवान् पुरुष है वह दुःखों से रहित हुआ संसार में रहकर भी खेद को नहीं प्राप्त होता है ॥९॥

यस्याभिमानो मोक्षेऽपि देहेऽपि ममता तथा ।
न च ज्ञानी न वा योगी केवलं दुःखभागसौ ॥१०॥

अन्वय:- यस्य मोक्षे अपि अभिमानः तथा देहे अपि ममता असौ न च ज्ञानी न वा योगी (किन्तु) केवलम् दुःखभाक् १०
जिस पुरुष को ऐसा अभिमान है कि, मैं मुक्त हूं, त्यागी हूं, मेरा शरीर उपवास आदि अनेक प्रकार के कष्ट सहने में समर्थ है और जिस का देह के विषें ममत्व है, वह पुरुष न ज्ञानी है, न योगी है किंतु केवल दुःखी है, क्योंकि उस का अभिमान और ममता दूर नहीं हुए हैं ॥१०॥

हरो यापदेष्टा ते हरिः कमलजोऽपि वा।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणाहते ॥११॥

अन्वय:- यदि हरः वा हरिः (अथवा) कमलजः अपि ते उपदेष्टा (स्यात) तथापि सर्वविस्मरणात् ऋते तव स्वास्थ्यम न स्यात् ॥ ११॥

हे शिष्य ! साक्षात् सदाशिव तथा विष्णु भगवान् और ब्रह्माजी ये तीनों महासमर्थ भी तेरे को उपदेश करें, तौ भी संपूर्ण प्राकृत, अनित्य वस्तुओं की विस्मृति बिना तेरा चित्त शांति को प्राप्त नहीं होयगा और जीवन्मुक्तदशा का सुख प्राप्त नहीं होयगा ॥ ११ ॥

इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां भाषाटीकया सहितं विशेषोपदेशं नाम षोडशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १६ ॥

=====

अथ सप्तदशं प्रकरणम् १७.

तेन ज्ञानफलं प्राप्तं योगाभ्यासफलं तथा ।
तृप्तः स्वच्छेन्द्रियो नित्यमे- का की रमते तु यः ॥ १ ॥

अन्वयः- यः तु तृप्तः स्वच्छेन्द्रियः (सन्) नित्यम् ए का की रमते; तेन ज्ञानफलं तथा योगाभ्यासफलम् प्राप्तम् ॥ १ ॥

अब अन्य पुरुषोंकी भी ज्ञान में प्रवृत्ति होने के अर्थ तत्वज्ञान के फल का निरूपण करने की इच्छा करते हुए गुरु प्रथम तत्वज्ञान की दशा का निरूपण करते हैं जो पुरुष इंद्रियों को विषयों से हटाकर और अपने स्वरूपमें ही तृप्त होकर विषयसंयोग के बिना इकला ही सदा आत्मा के विषें रमण करता है, उस पुरुषने ही ज्ञान का तथा योग का फल पाया है ॥ १ ॥

न कदाचिजगत्यस्मिस्तत्त्वज्ञो हन्त खिद्यति ।
यत एकेन तेनेदं पूर्णं ब्रह्माण्डमण्डलम् ॥ २ ॥

अन्वयः- हन्त ! तत्वज्ञः कदाचित् अस्मिन् जगति न खिद्यति; यतः एकेन इदं ब्रह्माण्डमण्डलम् पूर्णम् ॥ २ ॥

हे शिष्य ! इस संसार के विषें आत्मतत्वज्ञानी कदापि खेद को नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि तिस इकले से ही यह ब्रह्माण्डमंडल पूर्ण है, सो दूसरे के न होने से खेद किस प्रकार हो सकता है, सोई श्रुतिमें भी कहा है "द्वितीया? भयं भवति ॥ २ ॥

नजातु विषयाः केपि स्वारामं हर्षयन्त्यमी ।
सल्लकीपल्लवप्रीतमिवेभं निम्बपल्लवाः ॥ ३ ॥

अन्वयः- सल्लकीपल्लवप्रीतम् इभं निम्बपलवाः इव अमी के अपि विषयाः स्वारामं जातु न हर्षयन्ति ॥ ३ ॥

जो निरंतर आत्मा के विषें रमता है, वह आत्माराम कहाता है, तिस आत्माराम पुरुष को जगत् के कोई विषय क्या प्रसन्न कर सकते हैं, जिस प्रकार एक महामदोन्मत्त हस्ती वन में हजार हस्तियों के झुंड में विहार करता है और परम मधुरस्वादवाली सल्लकीनामक लता के कोमल पत्तों का प्रेमपूर्वक भक्षण करता है, और कडुवे नीम के पत्तों से प्रसन्न नहीं होता है, तिसी प्रकार ज्ञानी भी परम मधुर आत्मा का स्वाद लेता है और विषयों के सुखों को परम कडुआ जानकर त्याग देता है अर्थात् उन की ओर दृष्टि भी नहीं देता है ॥३॥

यस्तु भोगेषु भुक्तेषु न भवत्यधिवासिता।
अभुक्तेषु निराकांक्षी ताहशो भवदुलभः॥४॥

अन्वयः- यः तु भुक्तेषु भोगेषु अधिवासिता न भवति; (तथा) अभुक्तेषु निराकांक्षी (भवति) तादृशः (पुरुषः) भवदुर्लभः॥४॥

जिस की भोगे हुए विषयों में आसक्ति नहीं होती है, और नहीं भोगे हुए विषयों में अभिलाषा नहीं होती है, ऐसा पुरुष संसार में दुर्लभ है अर्थात् करोडों में एक आदमी होता है ॥४॥

बुभुक्षुरिह संसारे मुमुक्षुरपि दृश्यते।
भोगमोक्षनिराकांक्षीविरलोहि महाशयः॥५॥

अन्वयः- इह संसारे बुभुक्षुः मुमुक्षुः अपि दृश्यते हि भोगमोक्षनिराकांक्षी महाशयः विरलः ॥ ५॥

इस संसार में विषयभोग की अभिलाषा करनेवाले भी बहुत देखने में आते हैं और मोक्ष की इच्छा करनेवाले भी बहुत देखने में आते हैं परंतु विषयभोग और मोक्ष दोनों की इच्छा न करनेवाला तथा पूर्णब्रह्म के विषें अंतःकरण लगानेवाला विरला ही होता है, सोई श्रीकृष्णभगवान्ने भगवद्गीता के विषें कहा है कि "यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः" ॥५॥

धर्मार्थकाममोक्षेषुजीविते मरणे तथा।
कस्याप्युदारचित्तस्यहेयोपादेयतान हि॥६॥

अन्वयः- धमार्थकाममोक्षेषु जीविते तथा मरणे कस्य अपि उदारचित्तस्य हि हेयोपादेयता न ॥ ६॥

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार परम फल हैं, इन के विषें संपूर्ण प्राणियों का अंतःकरण बंधा है तथा संपूर्ण प्राणियों को जन्ममरण का भय रहता है, परंतु ज्ञानी

पुरुष का मन धर्मादि के विषें नहीं बंधता है और जो ज्ञानी तिन धर्मादिक को सुखरूप जानकर ग्रहण नहीं करता है और दुःखरूप जानकर त्यागता नहीं है, तथा जीवनमरण से अपनी कुछ वृद्धि और हानि नहीं समझता है ऐसा ज्ञानी कोई विरला ही होता है ॥६॥

वाञ्छा न विश्वविलये न द्वेषस्तस्य च स्थितौ ।
यथा जीविकया तस्माद्धन्य आस्ते यथासुखम् ॥७॥

अन्वयः- (यस्य) विश्वविलये वाञ्छा न, तस्य स्थितौ च देषः न (अस्ति) तस्मात् धन्यः (सः) यथाजीविकया यथासुखम् आस्ते ॥ ७ ॥

जो ज्ञानी है, उस को इस विश्व के नाश की इच्छा नहीं होती है तथा तिस विश्व की स्थितिसे द्वेष नहीं होता है, क्योंकि वह ज्ञानी तो जानता है कि, सदा सर्वत्र एक ब्रह्म ही प्रकाश कर रहा है और प्रारब्धकर्मानुसार देह को धारण करता है तथा सदा सुखरूप रहता है ऐसा ज्ञानी पुरुष धन्य है ॥ ७॥

कृतार्थोऽनेन ज्ञानेनेत्येवं गलितधीः कृती।
पश्यन् शृण्वन् स्टशन जिघनश्नन्नास्ते यथासुखम् ॥ ८॥

अन्वयः- अनेन ज्ञानेन (अहम्) कृतार्थः इति एवम् गलि. तधीः कृती पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अनन् यथासुखम् आस्ते ॥ ८॥

इस " तत्वमसि " आदि महावाक्य के ज्ञान से मैं कृतार्थ होगया हूं ऐसा निश्चय होने से देहादि के विषें जिस की आत्मबुद्धि नष्ट हो गई है, ऐसा ज्ञानी देखता हुआ, श्रवण करता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ तथा भक्षण करता हुआ भी सुखपूर्वक ही स्थित होता है अर्थात् मैं ज्ञान से कृतार्थ होगया ऐसी बुद्धि के कारण, बाह्य इंद्रियों का व्यापार होनेपर भी मूर्ख की समान ज्ञानी को खेद नहीं होता है ॥८॥

शून्या दृष्टिर्वृथा चेष्टा विकलानीन्द्रियाणि च ।
न स्पृहा न विरक्तिर्वा क्षीणसंसारसागरे ॥ ९॥

अन्वयः- क्षीणसंसारसागरे (पुरुषे) दृष्टिः शून्या, चेष्टा वृथा, इन्द्रियाणि च विकलानि, स्पृहा न वा विरक्तिः न ॥९॥

जिस ज्ञानी का संसारसागर क्षीण हो जाता है उस को विषयभोग की इच्छा नहीं होती है और विषयों से विरक्ति भी नहीं होती है, क्योंकि ज्ञानी की दृष्टि कहिये मन का व्यापार शून्य कहिये संकल्पविकल्परहित होता है और चेष्टा कहिये शरीर का व्यापार वृथा कहिये फल की इच्छा से रहित होता है तथा नेत्र आदि इंद्रिये विकल

कहिये समीप में आये हुए भी विषयों को यथार्थ रूप से न जाननेवाली होती हैं सोई भगवद्गीता के विषें कहा भी है कि " यस्मिन् जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः " ॥ ॥९॥

न जागर्ति न निद्राति नोन्मीलति न मीलति ।
अहो परदशा कापि वर्त्तते मुक्तचेतसः ॥ १०॥

अन्वयः- न जागर्ति न निद्राति न उन्मीलति न मीलति, अहो मुक्तचेतसः का अपि परदशा वर्तते ॥ १० ॥

न जागता है, न शयन करता है, न नेत्रों के पलकों को खोलता है, न मीचता है अर्थात् संपूर्ण विषयों को ब्रह्मरूप देखता है, इस कारण आश्चर्य है कि, मुक्त है चित्त जिस का ऐसे ज्ञानी की कोई परम उत्कृष्ट दशा है॥ १०॥

सर्वत्र दृश्यते स्वस्थः सर्वत्र विमलाशयः ।
समस्तवासनामुक्तो मुक्तः सर्वत्र राजते ॥ ११ ॥

अन्वयः- मुक्तः सर्वत्र स्वस्थः सर्वत्र विमलाशयः (च) दृश्यते; (तथा) समस्तवासनामुक्तः (सन्) सर्वत्र राजते ॥ ११॥

जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष सुख दुःखादि सर्वत्र स्वस्थ चित्त रहनेवाला और शत्रु मित्र आदि सब के विषें निर्मल अंतःकरणवाला (समदर्शी) दीखता है और संपूर्ण वासनाओं से रहित होकर सब अवस्थाओं के विषें आत्मस्वरूप के विषें विराजमान होता है ॥११॥

पश्यन् शृण्वन् स्टशन जिघनश्नन्गृह्णन्वदन् वजन् ।
ईहितानीहितैर्मुक्तो मुक्त एव महाशयः ॥ १२॥

अन्वयः- पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिवन् अनन् गृह्णन् वदन वजन (आप) ईहितानीहितः मुक्तः महाशयः मुक्तः एव ॥ १२॥

देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, ग्रहण करता हुआ, भोजन करता हुआ, कथन करता हुआ तथा गमन करता हुआ भी इच्छा और द्वेष से रहित ब्रह्म के विषें चित्त लगानेवाला मुक्त ही है ॥१२॥

सुखे दुःखे नरे नार्यां सम्पत्सु च विपत्सुच।
विशेषो नैव धीरस्य सर्वत्र समदर्शिनः॥१५॥

अन्वयः- सुखे दुःखे, नरे ना-म् सम्पत्सु, च विपत्सु च धीरस्य सर्वत्र समदर्शिनः विशेषः न एव ॥ १५ ॥

संपूर्ण वस्तुओं के विषें एक आत्मदृष्टि करनेवाले जिस धीर पुरुष का मन सुख के विष और स्त्रीविलास के विषें तथा संपत्ति के विषें प्रसन्न नहीं होता है और महादुःख तथा विपत्ति के विषें कंपायमान नहीं होता है वही मुक्त है ॥१५॥

न हिंसा नैव कारुण्यं नौद्धत्यं न च दीनता।
नाश्चर्यं नैव च क्षोभः क्षीण संसरणे नरे॥१६॥

अन्वयः- क्षीणसंसरणे नरे हिंसा न, कारुण्यम् न, औद्धत्यम् न, दीनता च एव न, आश्चर्यम् न, क्षोभः च एव न ॥ १६ ॥

जिस पुरुष का संसार क्षीण हो जाता है अर्थात् देहाभिमान दूर हो जाता है उस का जन्ममृत्युरूप बंधन दूर हो जाता है, ऐसे ज्ञानी के मन में हिंसा कहिये परद्रोह नहीं हो जाता, दयालुता नहीं होती है, उद्धतता नहीं होती है, दीनता नहीं रहती है, आश्चर्य नहीं रहता
है और क्षोभ भी नहीं रहता है, क्योंकि ज्ञानी का एक ब्रह्माकार हो जाता है ॥१६॥

नमुक्तो विषयद्वेष्टा न वा विषयलोलुपः।
असंसक्तमना नित्यं प्राप्ताप्राप्तमुपाश्नुते॥१७॥

अन्वयः- मुक्तः विषयद्वेष्टा न (भवति), वा विषयलोलुपः (च) न (भवति,), (किन्तु) नित्यम् असंसक्तमनाः (सन) प्राप्ताप्राप्तम् उपाइनुते ॥ १७ ॥

जीवन्मुक्त पुरुष विषयों से द्वेष (विषयों का त्याग) नहीं करता है और विषयों में आसक्त भी नहीं होता है किंतु विषयासक्तिरहित है मन जिस का ऐसा होकर नित्य प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त और अप्राप्त को भोगता है ॥१७॥

समाधानासमाधानहिताहितविकल्पनाः ।
शून्यचित्तो न जानाति कैवल्यमिव संस्थितः॥१८॥

अन्वयः- शून्यचित्तः कैवल्यम् संस्थितः इव समाधानासमाधानहिताहितविकल्पनाः न जानाति ॥ १८ ॥

शून्य है चित्त जिस का ऐसा जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष विदेह कैवल्यदशा को प्राप्त हुए की समान समाधान,
असमाधान, हित और अहित की कल्पना को नहीं जानता है, क्योंकि उस का मन ब्रह्माकार हो जाता है ॥ १८॥

निर्ममो निरहंकारो न किञ्चिदिति निश्चितः।
अन्तर्गलितसर्वाशः कुर्वनपि करोति न॥१९॥

अन्वयः- निर्ममः निरहङ्कारः किञ्चित् न इति निश्चितः अन्तर्गः लितसर्वाशः कुर्वन् अपि न करोति ॥ १९ ॥

जिस की स्त्रीपुत्रादि के विषें ममता दूर हो गई है और जिस का देहाभिमान दूर हो गया है तथा ब्रह्म से अन्य द्वितीय कोई वस्तु नहीं है ऐसा जि से निश्चय हो गया है और जिस की भीतर की आशा नष्ट हो गई है ऐसा ज्ञानी पुरुष विषयभोग करता हुआ भी नहीं करता है अर्थात् उस में आसक्ति नहीं करता है ॥ १९॥

मनःप्रकाशसंमोहस्वप्नजाड्यविवर्जितः।
दशां कामपि सम्प्राप्तो भवेद्लितमानसः ॥२०॥

अन्वयः- मनःप्रकाशसंमोहस्वमजाडयविवर्जितः । गलितमानसः काम अपि दशाम् सम्प्राप्तः भवेत् ॥ २० ॥

जिस के मन के विषें मोह नहीं है ऐसा जो ज्ञानी पुरुष है उस के मन का प्रकाश तथा अज्ञानरूपी जडत्व निवृत्त हो जाता है तिस ज्ञानी की कोई अनिर्वचनीय अष्टावक्रगीता।दशा होती है अर्थात् उस ज्ञानी की दशा किसी के जानने में नहीं आती है ॥२०॥

इति श्रीमदष्टावकमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां भाषाटीकया सहितं तत्त्वज्ञस्वरूपविशतिकं नाम सप्तदशं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १७॥

अष्टादशं प्रकरणम् १८.
यस्य बोधोदये तावत्स्वप्नवद्भवति भ्रमः।
तस्मै सुखैकरूपाय नमःशान्ताय तेजसे॥१॥

अन्वयः यस्य बोधोदये भ्रमः स्वमवत् भवति; तावत् तस्मै सुखैकरूपाय शान्ताय तेज से नमः ॥ १॥

इस प्रकरण में शांति की प्रधानता वर्णत करते हुए प्रथम शांति का वर्णन करते हैं तहां भी प्रथम शांत आत्मा को नमस्कार करते हैं, जिस आत्मा का ज्ञान होते ही यह प्रत्यक्ष संसार स्वप्र की समान मिथ्या भासने लगता है, प्रथम तिस सुखरूप प्रकाशमान शांतसंकल्पस्वरूप आत्मा के अर्थ नमस्कार है ॥१॥

अर्जयित्वाऽखिलानर्थान् भोगानाप्नोति पुष्कलान् ।

नहि सर्वपरित्यागमन्तरेण सुखी भवेत् ॥२॥

अन्वयः- अखिलान् अर्थान् अर्जयित्वा पुष्कलान् भोगान आप्नोति, सर्वपरित्यागमन्तरेण सुखी नहि भवेत् ॥ २॥

यहां शांतसंकल्पस्वरूपको ही सुखरूप कहा, तिस कारण शंका होती है कि, धनी पुरुष भी तो सुखी होता है फिर शांतसंकल्पको ही सुखरूप किस प्रकार कहा ? तिस का समाधान करते हैं कि पुरुष धन, धान्य, स्त्री और पुत्र आदि अनेक पदार्थों को प्राप्त कर के अनेक प्रकार के भोगोंको ही भोगता है, सुखरूप नहीं होता है, क्योंकि उन भोगों के नष्ट होनेपर फिर दुःख प्राप्त होता है, इस कारण संपूर्ण संकल्पविकल्पों का त्याग किये बिना सुखरूप कदापि नहीं हो सकता ॥२॥

कर्तव्यदुःखमार्तण्डज्वालादग्धान्तरात्मनः ।
कुतः प्रशमपीयूषधारासारमृते सुखम् ॥३॥

अन्वयः- कर्त्तव्यदुःखमार्तण्डज्वालादग्धान्तरात्मनः प्रशमपीयूपधारासारम् ऋते सुखं कुतः ? ॥ ३ ॥

मिथ्यारूप जो संकल्प विकल्प है उन को तुच्छ जानना ही संकल्पविकल्प का त्याग है, जै से वंध्यापुत्र को मिथ्यारूप जान लेना ही त्याग है क्योंकि मिथ्यारूप वस्तु का अन्य किसी प्रकार का त्याग नहीं हो सकता, यह विषय अन्य रीतिसे दिखाते हैं नाना प्रकार के जो
कर्म उन कर्मों से उत्पन्न होनेवाले जो दुःख वही हुआ सूर्य की किरणों का अत्यंत तीक्ष्ण ताप तिस से दग्ध हुआ है अंतःकरण जिस का ऐसे पुरुष को संकल्प विकल्प की शांतिरूप अमृतधारा की वृष्टि के बिना सुख कहां से हो सकता है ? ॥३॥

भवोऽयं भावनामात्रो न किञ्चित्परमार्थतः ।
नास्त्यभावः स्वभावानां भावाभावविभाविनाम् ॥४॥

अन्वयः- अयम् भवः भावनामात्रः परमार्थतः किञ्चित् न (अस्ति); भावाभावविभाविनाम् स्वभावानाम् अभावः न अस्ति ॥ ४॥

संसाररूपी विष को दूर करनेवाला होने के कारण संकल्पविकल्प के शान्तिरूप को अमृतरूप कर के वर्णन करते हैं कि यह संसार संकल्पमात्र है, वास्तवदृष्टि से एक आत्मा के सिवाय दूसरा कुछ नहीं है, यहां वादी शंका करता है कि भावरूप जो दृश्यमान जगत् है सो नष्ट होने के अनंतर अभावरूप शून्य हो जाता है, इस प्रकार तो शून्यवादी का मत सिद्ध होता है ? इस के उत्तर में श्रीगुरु अष्टावक्रजी कहते हैं,

कि संकल्पमात्र जगत् के नाश होन के अनंतर सत्यस्वभाव आत्मा अखंडरूप से विराजमान रहता है, इस कारण संसार का नाश होने के अनंतर शून्य नहीं रहता है, किंतु उस समय निर्विकल्प केवलानंदरूप मुक्त आत्मा रहता है ॥४॥

न दूरं न च संकोचाल्लब्धमेवात्मनः पदम् ।
निर्विकल्पं निरायासं निर्विकारं निरञ्जनम् ॥५॥

अन्वय:निर्विकल्पम् निरायासम् निर्विकारम् निरञ्जनम् आत्मनः पदम् न दूरम् न च संकोचात् (किन्तु) लब्धम् एव (अस्ति) ॥५॥

वादी प्रश्न करता है कि, संकल्पविकल्प की निवृत्ति होते ही आत्मा को अमृतत्व की प्राप्ति किस प्रकार हो जाती है ? तहां कहते हैं कि आत्मस्वरूप दूर नहीं है किंतु सदा प्राप्त है; और परिपूर्ण है सदा संकल्पविकल्परहित है, निरायास कहिये श्रम के बिना ही प्राप्त है, विकार जो जन्म और मृत्यु तिन से रहित है और निरंजन कहिये माया (अविद्या) रूप उपाधिरहित है, जिस प्रकार कंठ में धारण की हुई मणि भूल से दूसरे स्थान में ढूंढने से नहीं मिलती है और विस्मृति के दूर होते ही कंठ में प्रतीत हो जाती है, तिसी प्रकार अज्ञान से आत्मा दूर प्रतीत होता है परंतु ज्ञान होनेपर प्राप्त ही है ॥५॥

व्यामोहमात्रविरतौ स्वरूपादानमात्रतः।
वीतशो का विराजन्ते निरावरणदृष्टयः॥ ६ ॥

अन्वय:- निरावरणदृष्टयः व्यामोहमात्रविरतौ स्वरूपादानमात्रतः वीतशोकाः (संतः) विराजन्ते ॥ ६ ॥

तत्वज्ञान से आत्मप्राप्ति होती है ऐसा जो शास्त्रकारों को व्यवहार है सो किस प्रकार होता है ? और यदि आत्मा नित्य प्राप्त ही है तो गुरु के उपदेश और शास्त्राभ्यास की क्या आवश्यकता है, तहां कहते हैं कि केवल अज्ञानरूपी मोह का परदा पड रहा है, तिस से आत्मस्वरूप का प्रकाश नहीं होता है। इस कारण समुद्र उपदेश से मोह को दूर कर के जिस से स्वरूप का निश्चय किया है, ऐसा जो ज्ञानी है, वह जगत् में शोभायमान होता है और उस की दृष्टिपर फिर मोहरूपी परदा नहीं पडता है॥ ६ ॥

समस्तं कल्पनामात्रमात्मा मुक्तःसनातनः।
इति विज्ञाय धीरो हि किमभ्यस्यति बालवत् ॥७॥

अन्वयः- समस्तम् कल्पनामात्रम्, आत्मा सनातनः मुक्तः धीरः इति विज्ञाय हि बालवत् किम् अभ्यस्यति ॥ ७॥

यह संपूर्ण जगत् कल्पनामात्र है और आत्मा नित्यमुक्त है; ज्ञानी पुरुष इस प्रकार जानकर क्या बालक की समान सांसारिक व्यवहार करता है ? अर्थात् कदापि नहीं करता है ॥७॥

आत्मा ब्रह्मेति निश्चित्य भावाभावौ च कल्पितौ ।
निष्कामः किं विजानाति किं ब्रूते च करोति किम्॥८॥

अन्वयः- आत्मा ब्रह्म, भावाभावौ च कल्पितौ इति निश्चित्य निष्कामः (सन्) किं विजानाति, किं ब्रूते, किं च करोति ॥८॥

संपूर्ण कल्पनामात्र है, इस ज्ञान का मूल कारण जो तत्त्वंपदार्थ का ऐक्यज्ञान उसी को कहते हैं कि, आत्मा कहिये, जीवात्मा जो त्वम् ' पदार्थ है और ब्रह्म तत्पदार्थ है, ये दोनों अभिन्न हैं और अधिष्ठानरूप ब्रह्म का साक्षात्कार होनेपर भाव, अभावरूपसंपूर्ण घटादि दृश्य पदार्थ कल्पित हैं ऐसा निश्चय कर के निष्काम होता हुआ ज्ञानी क्या जानता है क्या कहता है ? और क्या करता है ? अर्थात् मन के ब्रह्माकार होने के कारण न कुछ जानता है, न कुछ कहता है, और न कुछ करता है किंतु आत्मस्वरू में स्थित होता है ॥८॥

अयं सोऽहमयं नाहमिति क्षीणा विकल्पनाः ।
सर्वमात्मेति निश्चित्य तूष्णीभूतस्य योगिनः॥९॥

अन्वयः- सर्वम् आत्मा इति निश्चित्य तूष्णीभूतस्य योगिनः अयम् सः अहम्, अयम् अहम् न इति विकल्पनाः क्षीणाः (भवन्ति) ॥९॥

आत्मज्ञान से संपूर्ण कल्पना निवृत्त हो जाती है यह दिखाते हैं। जिस पुरुष को संपूर्ण जगत् ब्रह्मरूप भासता है वह पुरुष मुनिव्रतरूपी योगदशा को प्राप्त होता है, क्योंकि उस पुरुष का मन वृत्तिरहित होकर ब्रह्म के विषें एकाकार हो जाता है तदनंतर उस पुरुष को अपना तथा पर का ज्ञान नहीं रहता है, अर्थात् मैं ध्यान करता हूं और दूसरा पुरुष अन्य कार्य करता है, यह अज्ञान दूर हो जाता है, तात्पर्य यह है कि, उस पुरुष की कल्पनामात्र नष्ट हो जाती है ॥९॥

न विक्षेपो न चैकाग्रयं नातिबोधो न मूढता।
न सुखं न च वा दुःखमुपशान्तस्य योगिनः॥१०॥

अन्वय:- उपशान्तस्य योगिनः विक्षेपः न, ऐकाग्र्यम् च न, अतिबोधः न, मूहत। न, सुरक्म् न वा, दुःखम् च न (भवति) ॥ १० ॥

अब संकल्पविकल्परहित पुरुष का स्वरूप दिखाते हैं, जो पुरुष संकल्पविकल्परहित होकर शांति को प्राप्त होता है, उस शांतस्वभाव योगी के मन को किसी बात का विक्षेप नहीं होता है, एकाग्रता नहीं होती है, अत्यंत ज्ञान अथवा मूढता नहीं होती है, सुख नहीं होता है, और दुःख भी नहीं होता है, क्योंकि वह केवल ब्रह्मानंदस्वरूप होता है। ॥ १० ॥

स्वाराज्ये भैक्ष्यवृत्तौ च लाभालाभे जने वने ।
निर्विकल्पस्वभावस्य न विशेषोऽस्ति योगिनः ॥ ११ ॥

अन्वय:- निर्विकल्पस्वभावस्य योगिनः स्वाराज्ये मैक्ष्यवृत्ती लाभालाभे जने वने च विशेषः न अस्ति ॥ ११ ॥

संकल्प और विकल्प से रहित है स्वभाव जिस का ऐसे योगी (ज्ञानी) को स्वर्ग का राज्य मिलनेसे, प्रारब्धकर्मानुसार प्राप्त हुए वस्तु से तथा जनसमूह में निवास होने से कुछ प्रसन्नता नहीं होती है और भिक्षा मांगकर निर्वाह करनेसे, किसी पदार्थ की प्राप्ति न होने से तथा निर्जन स्थान में रहने से कुछ अप्रसन्नता नहीं होती है, क्योंकि उस का मन तो ब्रह्माकार होता है ॥ ११ ॥

क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकिता।
इदं कृतमिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तस्य योगिनः ॥ १२ ॥

अन्वय:- इदम् कृतम्, इदम् न (कृतम्), इति द्वन्द्वैः मुक्तस्य योगिनः धर्मः क्व, कामः च क्व, अर्थः क्व वा विवेकिता च क्व ॥ १२ ॥

यह किया, यह नहीं किया इत्यादि द्वंद्वों से रहित योगी को धर्म कहां, काम कहां, अर्थ कहां और मोक्ष का उपायरूप ज्ञान कहां ? क्योंकि जब धर्मादि का कारण अविद्या और संकल्पविकल्पादि ही नहीं होते तो धर्मादि किस प्रकार हो सकते हैं ॥ १२ ॥

कृत्यं किमपि नैवास्ति न कापि हृदि रञ्जना ।
यथाजीवनमेवेह जीवन्मुक्तस्य योगिनः ॥ १३ ॥

अन्वय:- जीवन्मुक्तस्य योगिनः इह किम् अपि कृत्यम् न एक अस्ति, (तथा) हृदि का अपि रञ्जना न (अस्ति), किन्तु यथाजीवनम् एव (भवति) ॥ १३ ॥

जीवन्मुक्त योगी को इस संसार में कुछ भी करने को नहीं होता है और हृदय के विषें कोई अनुराग ही नहीं होता है, तथापि जीवन्मुक्त पुरुष जीवन के हेतु अदृष्ट के अनुसार कर्म करता है ॥ १३॥

क्व मोहः क्व च वा विश्वं क्व तद्ध्यानं क्व मुक्तता ।
सर्वसंकल्पसीमायां विश्रान्तस्य महात्मनः॥१४॥

अन्वयः- सर्वसङ्कल्पसीमायाम् विश्रान्तस्य महात्मनः मोहः का विश्वम् क्व, तद्ध्यानम् क्व वा मुक्तता च क्व ॥ १४ ॥

संपूर्ण संकल्पों की सीमा कहिये अवधि जो आत्मज्ञान तिस के विषें विश्राम को प्राप्त होनेवाले योगी को मोह कहां ? और विश्व कहां ? और विश्व का चिंतन कहां ? तथा मुक्तपना कहां ? क्योंकि वह तो ब्रह्मस्वरूप हो जाता है ॥१४॥

येन विश्वमिदं दृष्टं स नास्तीति करोतु वै।
निर्वासनः किं कुरुते पश्यन्नपि न पश्यति॥१९॥

अन्वयः- येन इदम् विश्वम् दृष्टम् सः वै न अस्ति, इति करोतु (यः) पश्यन् अपि न पश्यति (सः) निर्वासनः (सन्) किम् कुरुते ॥ १५॥

जिसने यह घटादि विश्व देखा है, वह कदाचित् घटादि विश्व नहीं है ऐसा जाने, परंतु जो देखता हुआ भी नहीं देखता है वह वासनारहित होकर क्या करे ? अर्थात् कुछ भी नहीं अर्थात् जिस को वासनाओं का संस्कार ही नहीं है वह त्याग ही क्या करे ॥१५॥

येन दृष्टं परं ब्रह्म सोऽहं ब्रह्मेति चिन्तयेत् ।
किं चिन्तयति निश्चिन्तो द्वितीयं योन पश्यति॥ १६॥

अन्वयः- येन परम ब्रह्म दृष्टम् सः अहं 'ब्रह्म' इति चिन्तयेत्, यः (तु) द्वितीयम् न पश्यति (सः) निश्चिन्तः (सन्) किम् चिन्तयति ॥ १६ ॥

जो पुरुष परब्रह्म को देखे, वह 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसा चिंतन करे और जो द्वितीय को देखता ही नहीं है, वह निश्चिन्त
होकर क्या चिन्तन नहीं करेगा ? अर्थात् कुछ भी चिन्तन नहीं करेगा, अर्थात् जिस की द्वैतदृष्टि नहीं है उ से ब्रह्मचिंतन करनेको भी कोई आवश्यकता नहीं है॥१६॥

दृष्टो येनात्मविक्षेपो निरोधं कुरुते त्वसौ।
उदारस्तु न विक्षिप्तः साध्याभावात्करोति किम् ॥१७॥

अन्वय:- येन आत्मविक्षेपः दृष्टः असौ तु निरोधम् कुरुते, उदारः तु विक्षिप्तः न भवति, (सः) साध्याभावात् किम करोति ? ॥ १७॥

अंतःकरण का विक्षेप जिस पुरुष के देखने में आता हो वह मन को वश में करने का उपाय करे और जो सर्वत्र एक ब्रह्मको ही देखता है, उस के तो विक्षेप है ही नहीं, उस को कुछ साधने योग्य नहीं होता है इस कारण वह कुछ साधन भी नहीं करता है ॥ १७॥

धीरो लोकविपर्यस्तो वर्तमानोऽपि लोकवत्।
नसमाधिन विक्षेपं न लेप स्वस्य पश्यति॥ १८॥

अन्वय:- लोकविपर्यस्तः धीरः लोकवतु वर्तमानः अपि स्वस्य समाधिम् विक्षेपम् न (तथा) लेपम् (च) न पश्यति ॥ १८॥

संसार के विक्षेपों से रहित धीर पुरुष संसारी पुरुष की समान वर्ताव करता हुआ भी अपने विषें समाधि को नहीं
मानता है, विक्षेप नहीं मानता है, तथा किसी कार्य में आसक्ति भी नहीं मानता है ॥ १८॥

भावाभावविहीनो यस्तृप्तो निर्वासनो बुधः ।
नैव किञ्चित्कृतं तेन लोकदृष्ट्या विकुर्वता॥ १९॥

अन्वय:- यः बुधः तृप्तः भावाभावविहीनः (तथा) निर्वासनः (भवति) लोकदृष्ट्या विकुर्वता (अपि) तेन किञ्चित् एव कृतम् ॥ १९ ॥

जोज्ञानी है वह अपने आनंद से परिपूर्ण रहता है। इस कारण किसी की स्तुति निंदा नहीं करता है. लोक तो यह देखते है कि ज्ञानी अनेक प्रकार की क्रिया करता है, परंतु ज्ञानी आसक्तिपूर्वक कोई भी क्रिया नहीं करता है, क्योंकि ज्ञानी को अभिमान नहीं होता है ॥ १९॥

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा नैव धीरस्य दुर्ग्रहः ।
यदा यत्कर्तुमायाति तत्कृत्वा तिष्ठतः सुखम् ॥ २०॥

अन्वय:- यदा यत् कर्तुम् आयाति तत् सुखम् कृत्वा तिष्ठतः धीरस्य प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ दुर्ग्रहः न एव (भवति) ॥ २० ॥

प्रारब्ध के अनुसार जो प्रवृत्त अथवा निवृत्त कर्म जब करने में आवे, उस को अनायस ही में कर के स्थित होनेवाले
धीर पुरुष को प्रवृत्ति के विषें अथवा निवृत्ति के विषें दुराग्रह नहीं होता है ॥ २०॥

निर्वासनो निरालम्बःस्वच्छन्दोमुक्तवन्धनः । क्षिप्तः संस्कारवातेन चेष्टते शुष्कपर्णवत् ॥२१॥

अन्वयः- निर्वासनः निरालम्बः स्वच्छंदः मुक्तबंधनः (ज्ञानी) संस्कारवातेन क्षिप्तः (सन्) शुष्कपर्णवत् चेष्टते ॥ २१ ॥

यहां वादी शंका करता है कि, तुम तो ज्ञानी को वासनारहित कह रहे हो फिर वह प्रवृत्त अथवा निवृत्त कर्म किस प्रकार से करता है ? तहां कहते हैं कि, ज्ञानी वासनारहित है, ज्ञानी को किसी का आधार नहीं लेना पडता ह, इस कारण ही स्वाधीन होता है, तथा ज्ञानी को राग द्वेष नहीं है परंतु प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त होता है, उस को करता है. जिस प्रकार पृथ्वी के ऊपर पड़े हुए सूखे पत्तों में कहां जाने की अथवा स्थित होने की वासना (सामर्थ्य) नहीं होती है परंतु जिस दिशा का वायु आता है उसी दिशा को पत्तेउडने लगते हैं, इसी प्रकार ज्ञानी प्रारब्ध के अनुसार भोगचेष्टा करता है ॥२१॥

असंसारस्य तु क्वापि न हर्षों न विषादता। स शीतलमना नित्यं विदेह इव राजते॥२२॥

अन्वयः- असंसारस्य तु के, अपि हर्षः न (भवति), विषादता (च) न (भवति) नित्यम् शीतलमनाः सः विदेहः इव राजते॥२२॥

जिस के संसार के हेतु संकल्प विकल्प दूर हो जाते हैं, उस असारी पुरुष को न हर्ष होता है न विषाद होता है अर्थात उस के चित्त में हर्ष आदिछः उर्मि नहीं उत्पन्न होती हैं, वह नित्य शीतल मनवाला मुक्त की समान विराजमान होता है ॥२२॥

कुत्रापिन जिहासास्ति नाशोवापि न कुत्रचित् ।
आत्मारामस्य धीरस्य शीतलाच्छतरात्मनः॥२३॥

अन्वयः- शीतलाच्छतरात्मनः आत्मारामस्य धीरस्य कुत्र अपि जिहासा न (अस्ति) वा कुत्रचित् अपि नाशः न (अस्ति) ॥२३॥

जो पुरुष आत्मा के विषें रमण करता है, वह धीरवान होता है और उस पुरुष का अंतःकरण परम पवित्र और शीतल होता है उस को किसी वस्तु के त्यागने की इच्छा नहीं होती है, और किसी वस्तु के ग्रहण करने की भी इच्छा नहीं होती है, क्योंकि उस ज्ञानी के राग द्वेष का लेशमात्र भी नहीं होता है और उस ज्ञानी को

कहीं अनर्थ भी नहीं होता है, क्योंकि अनर्थ का हेतु जो अज्ञान सो उस के विषें नहीं होता है ॥२३॥

प्रकृत्या शून्यचित्तस्य कुर्वतोऽस्य यदृच्छया।
प्राकृतस्येव धीरस्य न मानो नावमानता॥२४॥

अन्वय:- प्रकृत्या शून्यचित्तस्य प्राकृतस्य इव यदृच्छया कुर्वतः अस्य मानः न (वा) अवमानता न ॥ २४ ॥

स्वभाव से ही जिस का चित्त संकल्पविकल्परूप विकार से रहित है और जो प्रारब्धानुसार प्रवृत्त निवृत्त कर्मों को अज्ञानी की समान करता है, ऐसे धीर कहिये ज्ञानी को मान और अपमान का अनुसंधान नहीं होता है ॥२४॥

कृतं देहेन कर्मेदं न मया शुद्धरूपिणा ।
इति चिन्तानुरोधी यः कुर्वन्नपि करोति न ॥२५॥

अन्वय:- इदम् कर्म देहेन कृतम् शुद्धरूपिणा मया न (कृतम्) यः इति चिन्तानुरोधी (सः) कुर्वन् अपि न करोति ॥ २५॥

संपूर्ण कर्म किया देह करता है मैं नहीं करता हूं क्योंकि मैं तो शुद्धरूप साक्षी हूं. इस प्रकार जो विचारता है, वह पुरुष कर्म करता हुआ भी बंधन को नहीं प्राप्त होता है क्योंकि उस को कर्म करने का अभिमान नहीं होता है ॥२५॥

अतद्वादीव कुरुते न भवेदपि बालिशः।
जीवन्मुक्तः सुखी श्रीमान् संसरनपिशोभते॥२६॥

अन्वय:- जीवन्मुक्तः अतद्वादी इव कुरुते, (तथा)अपि बालिश: न भवेत् (अतः एव) संसरन् अपि सुखी श्रीमान् शोभते ॥२६॥

किये हुए कार्य को “ मैं करता हूं “ ऐसे नहीं कहता हुआ जीवन्मुक्त पुरुष कार्य को करता हुआ भी मूर्ख नहीं होता है, क्योंकि अंतःकरण के विषें ज्ञानवान होता है, इस कारण ही संसार के व्यवहार को करता हुआ भी भीतर सुखी और शोभायमान होता है ॥२६॥

नानाविचारसुश्रान्तो धीरो विश्रान्ति मागतः।
न कल्पतेन जानाति न शृणोति न पश्यति ॥२७॥

अन्वय:- नानाविचारसुश्रान्तः विश्रान्तिम् आगतः धीरः न कल्पते न जानाति न शृणोति न पश्यति ॥ २७॥

नाना प्रकार के संकल्पविकल्परूप विचारों से रहित होकर आत्मा के विषें विश्राम को प्राप्त हुआ धीर कहिये ज्ञानी पुरुष संकल्पविकल्परूप मन के व्यापार को नहीं करता है, और न जानता है तथा बुद्धि के व्यापार को नहीं करता है, शब्द को नहीं सुनता है, रूप को नहीं
देखता है अर्थात् इंद्रियमात्र के व्यापार को नहीं करता है क्यों कि उ से कर्तृत्व का अभिमान कदापि नहीं होता है ॥२७॥

असमाधेरविक्षेपान्न मुमुक्षुर्न चेतरः।
निश्चित्य कल्पितं पश्यन्ब्रह्मैवास्ते महाशयः॥२८॥

अन्वयः- (ज्ञानी) असमाधेः मुमुक्षुः न अविक्षेपात् इतरः च न (सर्वम्) कल्पितम् (इति) निश्चित्य पश्यन् (अपि) महाशयः ब्रह्म एव आस्ते ॥ २८ ॥

ज्ञानी मुमुक्षु नहीं होता है, क्योंकि समाधि नहीं करता है और बद्ध भी नहीं होता है, क्योंकि ज्ञानी के विषें विक्षेप कहिये द्वैत भ्रम नहीं होता है, किंतु यह संपूर्ण दृश्यमान जगत् कल्पित है ऐसा निश्चय कर के तदनंतर बाधित प्रपंच की प्रतीतिसे देखता हुआ भी निर्विकार चित्त होता है इस कारण साक्षात् ब्रह्मस्वरूप होकर स्थित होता है ॥२८॥

यस्यान्तः स्यादहङ्कारो न करोति करोति सः ।
निरहङ्कारधीरेण न किञ्चिद्धि कृतं कृतम् ॥२९॥

अन्वयः यस्य अन्तः अहङ्कारः स्यात् सः न करोति (अपि) करोति निरहङ्कारधीरण हि कृतम् (अपि) किञ्चिन्न कृतम्॥२९॥

तहां वादी शंका करता है कि, संसार को देखता हुआ भी ब्रह्मरूप किस प्रकार हो सकता है तिस का समाधान करते हैं कि, जिस के अंतःकरण के विषें अहंकार का अध्यास होता है, वह पुरुष लोकदृष्टि से न करता हुआ भी संकल्पविकल्प करता है क्योंकि उस को कर्तृत्व का अध्यास होता है और अहंकाररहित जो धीर कहिये ज्ञानी पुरुष है, वह लोकदृष्टि से कार्य करता हुआ भी अपनी दृष्टि से नहीं करता है क्योंकि उस को कर्तृत्व का अभिमान नहीं होता है ॥२९॥

नोद्विग्नं न च सन्तुष्टमकर्तृस्पन्दवर्जितम्।
निराशं गतसन्देहं चित्तं मुक्तस्य राजते ॥३०॥

अन्वयः- मुक्तस्य चित्तम् उद्विग्नम् न (भवति) सन्तुष्टम् च ना (भवति) अकर्तृस्पंदवर्जितम् निराशम् गतसन्देहम् राजते ॥३०॥

जो जीवन्मुक्त पुरुष है उस के चित्त में क भी उद्वेग (घबड़ाहट) नहीं होता है तिसी प्रकार संतोष भी नहीं होता है, क्योंकि कर्तापने के अभिमान का उस के विषें लेश भी नहीं होता है, तिसी प्रकार उस को आशा तथा संदेह भी नहीं होता है, क्योंकि वह तो सदा जीवन्मुक्त है ॥३०॥

निर्ध्यातुं चेष्टितुं वापि यच्चित्तं न प्रवर्तते ।
निर्निमित्तमिदं किन्तु निर्ध्यायति विचेष्टते ॥३१॥

अन्वयः- यच्चित्तम् निर्ध्यातुम् अपि वा चेष्टितुम् न प्रवर्त्तते किन्तु इदम् निर्निमित्तम् निर्ध्यायति विचेष्टते ॥ ३१ ॥

जिस ज्ञानी का चित्त कियारहित होकर स्थित होने को अथवा संकल्प विकल्पादिरूप चेष्टा करने को प्रवृत्त नहीं होता है, परंतु ज्ञानी का चित्त निमित्त कहिये संकल्पविकल्परहित होकर आत्मस्वरूप के विषें निश्चल स्थित होता है तथा अनेक प्रकार की संकल्पविकल्परूप चेष्टा भी करता है ॥३१॥

तत्त्वं यथार्थमाकर्ण्य मन्दः प्राप्नोति मूढताम् ।
अथवा याति संकोचममूढः कोऽपि मूढवत् ॥३२॥

अन्वयः- मन्दः यथार्थम् तत्त्वम् आकर्ण्य मूढताम् प्राप्नोति अथवा संकोचम् आयाति कः अपि अमूढः (अपि) मूढवत् (भवति) ॥ ३२ ॥

कोई अज्ञानी श्रुतिसे यथार्थतत्व (तत् और त्वम् पदार्थ के कल्पित भेद) को श्रवण कर के असंभावना और विपरीत भावनाओं के द्वारा अर्थात् संशय और
विपर्यय कर के मूढता को प्राप्त होता है, अथवा तत्-त्वम् पदार्थ के भेद को जानने के निमित्त संकोच कहिये चित्त की समाधि लगाता है और कोई ज्ञानी भी बाहर की गतिसे मूढ की समान बाहर के व्यवहारों को करता है ॥३२॥

एकाग्रता निरोधो वा मूढैरभ्यसते भृशम् ।
धीराः कृत्यं न पश्यन्ति सुप्तवत् स्वपदे स्थिताः ॥३३॥

अन्वयः- मूतैः एकाग्रता वा निरोधः भृशम् अभ्यस्यते स्वपदे स्थिताः धीराः सुप्तवत् कृत्यम् न पश्यन्ति ॥ ३३ ॥

जो देहाभिमानी मूर्ख हैं वे मन को वश में करने के अर्थ अनेक प्रकार का अभ्यास करते हैं परंतु उन का मन वश में नहीं होता है और जो आत्मज्ञानी धैर्यवान् पुरुष है, वह आत्मस्वरूप के विषें स्थिति को प्राप्त होता है उस का मन तो स्वभाव से ही वशीभूत होता है, जिस प्रकार निद्रा के समय में मन की चेष्टा बंद हो जाती है,

तिसी प्रकार ज्ञान होनेपर मन की चेष्टा बन्द हो जाती है, क्योंकि अद्वैतात्मस्वरूप के ज्ञान से भ्रममात्र की निवृत्ति हो जाती है ॥३३॥

अप्रयत्नात्प्रयत्नाद्वा मूढा नाप्नोति निर्तिम् ।
तत्त्वनिश्चयमात्रेण प्राज्ञो भवति निर्वृतः३४॥

अन्वयः- मूढः अप्रयत्नात् वा प्रयत्नात् (अपि) निवृतिम् न आमोति प्राज्ञः तत्त्वनिश्चयमात्रेण निर्वृतः भवति ॥ ३४ ॥

जो मूढ पुरुष है और जिस को आत्मज्ञान नहीं हुआ है वह अनेक प्रकार का अभ्यास कर के मन को वश में करे अथवा न करे तौ भी उस को निवृत्ति का सुख नहीं प्राप्त होता है, और जोआत्मज्ञानी हे उसने तो ज्यों ही आत्मस्वरूप का निश्चय किया कि, वह परम निवृत्ति के सुख को प्राप्त होता है ॥३४॥

शुद्धं बुद्ध प्रियं पूर्ण निष्प्रपञ्चं निरामयम् ।
आत्मानं तं न जानन्ति तत्राभ्यासपराजनाः॥३५॥

अन्वयः- तत्र अभ्यासपराः जनाः शुद्धम् बुद्धम् प्रियम् पूर्णम् निष्प्रपञ्चम् निरामयम् तम् आत्मानम् न जानन्ति ॥ ३५ ॥

सद्गुरु और वेदांतवाक्यों की शरण लिये बिना देहाभिमान दूर नहीं होता है तिस देहाभिमान से मन जगत् के विषें आसक्त रहता है, तिस कारण वह पुरुष आत्मस्वरूप को नहीं जानता है क्योंकि आत्मस्वरूपता शुद्ध है, चैतन्यस्वरूप है और आनंदरूपपरिपूर्ण, संसार की उपाधि से रहित तथा विविधतापरहित है, इस कारण देहाभिमानी पुरुष को उस का ज्ञान नहीं होता है ॥३५॥

नाप्नोति कर्मणा मोक्षं विमूढोऽभ्यासरूपिणा ।
धन्यो विज्ञानमात्रेण मुक्तस्तिष्ठत्यविक्रियः॥३६॥

अन्वयः विमूढः अभ्यासरूपिणा कर्मणा मोक्षम् न आप्नोति धन्यः विज्ञानमात्रेण अविक्रियः मुक्तः तिष्ठति ॥ ३६॥

जो पुरुष देहाभिमानी है वह योगाभ्यासरूप कर्म कर के मोक्ष को नहीं प्राप्त होता है क्योंकि, कर्ममात्र से मोक्षप्राप्ति होना दुर्लभ है. सोई श्रुतिमें भी कहा है कि "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनै के अमृतत्वमानशुः " योगाभ्यास आदि कर्म से मोक्ष नहीं होता है, संतान उत्पन्न करने से मोक्ष नहीं होता है, धन प्राप्त करने से मोक्ष नहीं होता है, यदि किन् ही ज्ञानियों को मोक्ष की प्राप्ति हुई है तो देहाभिमान के त्याग से ही हुई है इस कारण कोई भाग्यवान् विरला पुरुष ही आत्मज्ञान की प्राप्तिमात्र

से त्याग दिये हैं संपूर्ण संकल्प विकल्पादि जिसने ऐसा होकर मुक्त हो जाता है ॥ ३६ ॥

मूढो नाप्नोति तद्ब्रह्म यतो भवितुमिच्छति।
अनिच्छन्नपि धीरो हि परब्रह्मस्वरूपभाक्॥ ३७॥

अन्वय:- यतः मूढः ब्रह्म मतिम इच्छ त (अन) नत् न । आप्नोति हि धीरः अनिच्छन् अपि पर कह रूपक भवति॥ ३७॥

मूढपुरुष योगाभ्यासरूप कर्म कर के ब्रह्मरूप होने की इच्छा करता है, इस कारण ब्रह्म को नहीं प्राप्त होता है और ज्ञाता तो मोक्ष की इच्छा न करता है तो भी परब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त होता है क्योंकि उस का देहाभिमान दूर हो गया है ॥ ३७॥

निराधाराग्रहव्यग्रा मूढाः संसारपोषकाः।
एतस्यानर्थमूलस्य मूलच्छेदः कृतो बुधैः३८
अन्वय:- मूढाः निराधाराः ग्रहव्यग्राः संसारपोषकाः (भवन्ति); बुधैः अनर्थमूलस्य एतस्य मूलच्छेदः कृतः ॥ ३८ ॥

"मूढ जो अज्ञानी पुरुष हैं वे सद्गुरु और वेदांतवाक्यों के आधार के बिना ही केवल योगाभ्यासरूप कर्म करके ही मैं मुक्त हो जाऊँगा इस प्रकार निरर्थक दुराग्रह करनेवाले और संसार को पुष्ट करनेवाले होते हैं, संसार को दूर करनेवाला जो ज्ञान जिस का उन के विषें लेश भी नहीं है और ज्ञानी पुरुष जो हैं उन्होंने जन्ममरणरूपअनर्थ के मूलकारण इस संसार को ज्ञान के द्वारा मूल से ही छेदन कर दिया है ॥ ३८॥

नशान्ति लभते मूढो यतःशमितुमिच्छति।
धीरस्तत्त्वं विनिश्चित्य सर्वदा शान्तमानसः॥ ३९॥

अन्वय:- यतः मूढः शमितुम् इच्छति (अतः) शान्तिम् न लभते; धीरः तत्त्वम् विनिश्चित्य सर्वदा शान्तमानसः(भवति)॥ ३९॥

जोमूढ कहिये देहाभिमानी पुरुष है वह योगाभ्यास के द्वारा शांति की इच्छा करता है, परंतु योगाभ्यास से शांति को प्राप्त नहीं होता है, और ज्ञानी पुरुष आत्मतत्व का निश्चय कर के सदा शांतमन रहता है ॥ ३९॥

कात्मनो दर्शनं तस्य यद्दृष्टमवलम्बते।
धीरास्तं तनपश्यन्ति पश्यन्त्यात्मानमव्ययम् ॥४०॥

अन्वयः- यत् दृष्टम् अवलम्बते तस्य आत्मनः दर्शनम् क; ते धीराः तम् पश्यन्ति (किन्तु) तम् अव्ययम् आत्मानम् पश्यन्ति ॥ ४० ॥

जो अज्ञानी पुरुष दृष्ट पदार्थों को सत्य मानता है, उस को अत्मदर्शन किस प्रकार हो सक्ता है? परंतु धैर्यवान् पुरुष तिन दृष्ट पदार्थों को सत्य नहीं मानता है किंतु एक अविनाशी आत्मा को देखता है ॥४०॥

क निरोधो विमूढोऽस्य यो निबन्धं करोति वै ।
स्वारामस्यैव धीरस्य सर्वदासावकृत्रिमः ॥४१॥

अन्वयः- यः वै निर्बन्धम् करोति, (तस्य) विमूढस्य निगेधः क; स्वारामस्य धीरस्य एव असो सर्वदा अकृत्रिमः (भवति) ॥४१॥

जो मूढ देहाभिमानी पुरुष शुष्कचित्तनिरोध के विषें दुराग्रह करता है, तिस मूढ के चित्त का निरोध किस प्रकार हो सकता है ? अर्थात् उस के चित्त का निरोध कदापि नहीं हो सकता है, क्योंकि समाधि के अनंतर अज्ञानी का चित्त फिर संकल्पविकल्पयुक्त हो जाता है और आत्माराम धीर पुरुष के चित्त का निरोध स्वाभाविक ही होता है। क्योंकि उस का चित्त संकल्पादिरहित निश्चल और ब्रह्माकार होता है ॥४१॥

भावस्य भावकः कश्चिन्न किञ्चिद्भावकोऽपरः।
उभयाभावकःकश्चिदेवमेव निराकुलः ॥४२॥

अन्वयः- कश्चित् भावस्य भावकः अपरः न किञ्चित् भावकः एवम् कश्चित् उभयाभावकः एव नि कुलः आस्ते ॥ ४२ ॥

कोई नैयायिक आदि ऐसा मानते हैं कि, यह जगत् वास्तव में सत्य है और कोई शून्यवादी ऐसा मानते हैं कि, कुछ भी नहीं है और हजारों में एक आदमीआत्मा का अनुभव करनेवालाअभाव और भाव दोनों को न मानकर स्वस्थचित्तवाला रहता है ॥ ४२ ॥

शुद्धमद्वयमात्मानं भावयन्ति कुबुद्धयः।
नतु जानन्ति संमोहाद्यावज्जीवमनिर्वृताः ॥४३॥

अन्वयः- कुबुद्धयः शुद्धम् अद्वयम् आत्मानम् भावयन्ति, जानन्ति तु न; संमोहात् यावज्जीवम् अनिवृताः (भवन्ति) ॥४३॥

मूढबुद्धि अर्थात् देहाभिमानी पुरुष आत्मा का चिंतन करते हैं, परंतु जानते नहीं क्योंकि मोह से युक्त होते हैं. इस कारण ही जन्मभर उन की संकल्पविकल्पों से निवृत्ति नहीं होती है, अतएव संतोषको भी नहीं प्राप्त होते हैं ॥४३॥

मुमुक्षोर्बुद्धिरालम्बमन्तरेण न विद्यते।
निरालम्बैव निष्कामा बुद्धिर्मुक्तस्य सर्वदा ॥४४॥

अन्वयः- मुमुक्षोः बुद्धिः आलम्बम् अन्तरेण न विद्यते; मुक्तस्य बुद्धिः सर्वदा निरालम्बा निष्कामा एव ॥ ४४ ॥

जिस को आत्मा का साक्षात्कार नहीं हुआ है ऐसे मुमुक्षुपुरुष की बुद्धि सधर्मकवस्तुरूप आश्रय के बिना नहीं होती है और जीवन्मुक्त पुरुष की बुद्धि मुक्तिविषयमें भी इच्छारहित और सदा निरालम्ब (निर्विशेष आत्मानुरूप) होती है ॥४४॥

विषयद्वीपिनो वीक्ष्य चकिताःशरणार्थिनः ।
विशन्ति झटिति कोडं निरोधैकाग्रसिद्धये॥४५॥

अन्वयः- विषयद्वीपिनः वीक्ष्य चकिताः शरणार्थिनः (मूढाः) निरोधैकाग्रसिद्धये झटिति क्रोडम् विशन्ति ॥ ४५ ॥

विषयरूप व्याघ्र को देखकर भयभीत हुए, रक्षा की इच्छा करनेवाले अज्ञानी पुरुष ही जल्दी से चित्त का निरोध और एकाग्रता को सिद्धि के अर्थ गुहा के भीतर घुसते हैं, ज्ञानी नहीं घुसते हैं ॥ ४५ ॥

निर्वासनं हरिं दृष्ट्वा तूष्णीं विषयदन्तिनः।
पलायन्तेन शक्तास्ते सेवन्ते कृतचाटवः४६॥

अन्वयः- विषयदन्तिनः निर्वासनम् हरिम् दृष्ट्वा न शक्तः (सन्तः) तूष्णीम् पलायन्ते ते कृतचाटवः सेवन्ते ॥ ४६ ॥

वासनारहित पुरुषरूप सिंह को देखकर विषयरूपी हस्ती असमर्थ होकर चुपचाप भाग जाते हैं और तिस वासनारहित पुरुष को आकर्षित होकर स्वयं सेवन करते

नमुक्तिकारि का धत्ते निःशं को युक्तमानसः ।
पश्यन् शृण्वन् स्टशन जिघनश्नन्नास्ते यथासुखम् ॥४७॥

अन्वयः- निःशङ्कः युक्तमानसः (ज्ञानी) मुक्तिकारिकां न धत्तेः (किन्तु) पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अनन् यथासुखम् आस्ते ॥ ४७॥

अनिःशंक और निश्चल मनवाला ज्ञानी यम नियम आदि योगक्रिया को आग्रह से नहीं करता है, किंतु देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ और भोजन करता हुआ भी आत्मसुख के विषे ही निमग्न रहता है ॥४७॥

वस्तुश्रवणमात्रेण शुद्धबुद्धिनिराकुलः।
नैवाचारमनाचारमौदास्यवान पश्यति ॥४८॥

अन्वयः- वस्तुश्रवणमात्रेण शुद्ध बुद्धिः निराकुलः (ज्ञानी) आचारम् अनाचरम् वा औदास्थम् न एव पश्यति ॥ ४८ ॥

गुरु और वेदांतवाक्यों के द्वारा चैतन्यस्वरूप आत्मा के श्रवणमात्र से हुआ है परिपूर्ण आत्मा का साक्षात्कार जिस को और निराकुल अर्थात् अपने स्वरूपके विषं स्थित ज्ञानी आचार को वा अनाचार को अथवा उदासीनता इन की ओर दृष्टि नहीं देता है, क्योंकि वह ब्रह्माकार होता है ॥ १८॥

यदा यत्कर्तुमायाति तदा तत्कुरुते ऋजुः ।
शुभ वाप्यशुभं वापि तस्य चेष्टा हि बालवत् ॥४९॥

अन्वयः- यदा यत् वा अपि शुभम् अपि वा अशुभम् कर्तुम् आयाति तदा तत् ऋजुः (सन्) कुरुते (यतः) हि तस्य चेष्टा बालवत् (भवति) ॥ ४९ ॥

अब जो शुभ अथवा अशुभ कर्म प्रारब्धानुसार करना पड़ता है, उस को आग्रहरहित होकर करता है क्योंकि तिस जीवन्मुक्त ज्ञानी की चेष्टा बालक की समान होती है, अर्थात् वह प्रारब्धानुसार कर्म करता है रागद्वेष से नहीं करता है ॥४९॥

स्वातन्त्र्यात्सुखमाप्नोति स्वातन्त्र्याल्लभते परम् ।
स्वातन्त्र्यानिवृति गच्छेत्स्वातन्त्र्यात्परमं परम्॥५०॥

अन्वयः- स्वातन्त्र्यात सुखम् आप्नोति, स्वातन्त्र्यात् परमू लमते; स्वातन्त्र्यात निवृति गच्छेत, सातच्यात् परमम् पदमा (प्रामुयात्)॥५०॥

रागद्वेषरहित पुरुष सुख को प्राप्त होता है, परम ज्ञान को प्राप्त होता है और नित्य सुख को प्राप्त होता है तथा आत्मस्वरूप के विषें विश्राम को प्राप्त होता हे॥५०॥

अकर्तृत्वमभोक्तृत्वं स्वात्मनो मन्यते यदा।
तदा क्षीणा भवन्त्येव समस्ताश्चित्तवृत्तयः॥५१॥

अन्वयः- यदा स्वात्मनः अकर्तृत्वम् अभोक्तृत्वम् मन्यते तदा एव (अस्य) समस्ताः चित्तवृत्तयः क्षीणाः भवन्ति ॥५१॥

जब पुरुष अपने विषें कर्तापने का और भोक्तापनेका अभिमान त्याग देता है तब ही उस पुरुष की संपूर्ण चित्त की वृत्ति क्षीण हो जाती हैं ॥५१॥

उच्छृखलाप्यकृति का स्थिति(रस्य राजते।
न तु सस्टहचित्तस्य शांतिमूंढस्य कृत्रिमा॥५२॥

अन्वय:- धीरस्य उच्छृखला अपि अकृति का स्थितिः राजते; सस्पृहचित्तस्य मूहस्य कृत्रिमा शांतिः तु न (राजते) ॥ ५२॥

जो पुरुष निःस्पृहचित्त होता है उस धैर्यवान ज्ञानी की स्वाभाविक शांतिरहित भी स्थिति शोभायमान होती है और इच्छा से आकुल है चित्त जिसका ऐसे अज्ञानी पुरुष की बनावटी शांति शोभित नहीं होती है ॥५२॥

विलसंति महाभोगविशन्ति गिरिगहरान् ।
निरस्तकल्पना धीरा अबद्धा मुक्तबुद्धयः॥५३॥

अन्वय:- अबद्धाः मुक्तबुद्धयः निरस्तकल्पनाः धीराः महामोगैः विलसति गिरिगह्वरान् विशन्ति ॥५३॥

जिन ज्ञानियों की कल्पना निवृत्त हो गई है, जो आसक्तिरहित हैं, तथा जिन की बद्धि अभिमानरहित है वे ज्ञानी पुरुष क भी प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए भोगों से विलास करते हैं और क भी प्रारब्धानुसार पर्वत और वनों के विषें विचरते हैं ॥५३॥

श्रोत्रियं देवतां तीर्थमंगनां भूपतिं प्रियम् ।
दृष्ट्वा सम्पूज्य धीरस्य न कापि हृदि वासना॥५४॥

अन्वय:- श्रोत्रियम् देवताम् तीर्थम् सम्पूज्य (तथा) अङ्गनाम् भूपतिम् प्रियम् दृष्ट्वा धीरस्य हदि का अपि वासना न (जायते)॥५४॥

वेदपाठी ब्राह्मण और देवता की प्रतिमा तथा तीर्थका पूजन कर के और सुन्दर स्त्री राजा और प्रिय पुत्रादिको देखकर भी ज्ञानी के हृदय में कोई वासना नहीं उत्पन्न होती है ॥५४॥

भृत्यैः पुत्रैः कलत्रैश्च दौहित्रैश्चापि गोत्रजैः।
विहस्य धिकृतो योगी न याति विकृति मनाकू॥५५॥

अन्वय:- योगी भृत्यैः पुत्रैः कलत्रैः दौहित्रैः च अपि च गोत्रजैः विहस्य धिकृतः (अपि) मनाक विकृतिम् न याति ॥ ५५॥

सेवक स्त्री पुत्र दौहित्र (धेवते) और अन्य गोत्रके पुरुष भी यदि योगी का उपहास करें या धिकार देवें तो उस का मन किंचिन्मात्र भी क्षोभ को नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि उस ज्ञानी का मोह दूर हो जाता है ॥ ५९॥

सन्तुष्टोऽपि न सन्तुष्टः खिन्नोऽपि न । च खिद्यते ।
तस्याश्चर्यदशां तां तां ताशा एव जानते॥५६॥

अन्वयः- (योगी) सन्तुष्टः अपि सन्तुष्टः न (भवति); खिन्नः अपि च न खिद्यते; तस्य तां तां तादृशाम् आश्चर्यदशाम्, तादृशाः एव जानते ॥५६॥

ज्ञानी लोकदृष्टि से संतोषयुक्त दीखता हुआभी संतोषयुक्त नहीं होता है और लोकदृष्टि से खिन्न दखिता हुआ भी खिन्न नहीं होता है, ज्ञानी की इस प्रकारकी दशा को ज्ञानी ही जानते हैं ॥५६॥

कर्तव्यतैव संसारो न तां पश्यन्ति सूरयः।
शून्याकारा निराकारा निर्मिकारानिरामयाः॥५७॥

अन्वयः- संसारः कर्तव्यता एव शून्याकाराः निराकाराः निर्विकाराः निरामयाः सूरयः ताम् न पश्यन्ति ॥५७॥

कर्तव्यता कहिये मेरा यह कर्तव्य है इस प्रकार का जो कार्य का संकल्प है सोई संसार है परंतु संपूर्ण विश्वके नाश होनेपर भी जो वर्तमान रहते हैं और जो निराकार कहिये घटादिके से आकार से रहित हैं और जो सर्वत्र आत्मदृष्टि करनेवाले तथा संकल्पविकल्परूपी रोगसे रहित हैं वे कदापि कर्तव्यता को नहीं देखते हैं अर्थात् किसी कार्य के करने का संकल्प नहीं करते हैं ॥१७॥

अकुर्वन्नपि संक्षोभाव्यग्रःसर्वत्र मूढधीः।
कुर्वन्नपि तु कृत्यानि कुशलो हि निराकुलः॥५८॥

अन्वयः- मूढधीः अकुर्वन् अपि सर्वत्र संक्षोभात् व्यग्रः (भवति); हि कुशलः तु कृत्यानि कुर्वन् अपि निराकुलः (भवति) ॥५८॥

अज्ञानी पुरुष कर्मों को न करता हुआ भी सर्वत्र संकल्पविकल्प करने के कारण व्यग्र रहता है, और ज्ञानी कार्या को करता हुआ भी निर्विकारचित्त रहता है क्योंकि वह तो आत्मसुख के विषें विराजमान होता है ॥५८॥

सुखमास्ते सुखं शेते सुखमायाति याति च ।
सुखं वक्ति सुखं ते व्यवहारेऽपि शान्तधीः॥५९ ॥

अन्वय:- शान्तधीः व्यवहारे अपि सुखम् आस्ते; सुखम् शेते; सुखम् आयाति; (सुखम्) च याति; सुखम् वक्ति, सुखम् मुंक्ते ॥ ५९॥

प्रारब्ध के अनुसार व्यवहार के विषें वर्तमान भी आत्मनिष्ठा बुद्धिवाला ज्ञानी सुखपूर्वक बैठता है, सुखपूर्वक शयन करता है, सुखपूर्वक आता है, सुखपूर्वक जाता है, सुखपूर्वक कहता है तथा सुखपूर्वक ही भोजन करता है अर्थात् संपूर्ण इंद्रियों के व्यापार को करता है परंतु आसक्त नहीं होता है क्योंकि उस का चित्त तो ब्रह्माकार होता है ॥२९॥

स्वभावाद्यस्य नैवार्तिलाकवद्याहारिणः ।
महातूद इवाक्षोभ्यो गतकेशःस शोभते ॥६॥

अन्वय:- व्यवहारिणः यस्य स्वभावात् लोकवत् आतिः नैव (भवति किन्तु) सः महादः इव अक्षोभ्यः गतक्लेशः शोभते ॥ ६०॥

व्यवहार करते हुए भी ज्ञानी को स्वभाव से ही संसारी पुरुष की समान खेद नहीं हाता है किंतु वह ज्ञानी बड़े जल के सरावर की समान चलायमान नहीं होता है और निर्विकार स्वरूप में शोभायमान होता है ॥६॥

निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते ।
प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी॥६१॥

अन्वय:- मूढस्य निवृत्तिः अपि प्रवृत्तिः उपजायते धीरस्य प्रवृत्तिः अपि निवृत्तिकलभागिनी (भवति) ॥ ६१॥

अमूढ की निवृत्ति कहिये बाहोंद्रियों को विषयों से निवृत्त करना भी प्रवृत्तिरूप ही होता है क्योंकि उस के अहंकारादि दूर नहीं होते हैं और ज्ञानी की सांसारिक व्यवहारमें प्रवृत्ति भी निवृत्तिरूप ही होती है क्योंकि ज्ञानी को 'अहं करोमि ' ऐसा अभिमान नहीं होता है ॥ ६१॥

परिग्रहेषु वैराग्यं प्रायो मूढस्य दृश्यते ।
देहे विगलिताशस्य व रागःक विरागता ॥६२॥

अन्वय:- मूढस्य प्रायः परिग्रहेषु वैराग्यम् दृश्यते; देहे विगलिताशस्य व रागः (स्यात्) व विरागिता (स्यात्) ॥ ६२ ॥

जो मूर्ख देहाभिमानी पुरुष है वही मोक्ष की इच्छासे धन, धाम, स्त्री, पुत्रादिकों का त्याग करता है और जिस का देहाभिमान दूर हो गया है ऐसे जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष का स्त्रीपुत्रादि के विषें न राग होता है, न विराग होता है॥ ६२॥

भावनाभावनासक्ता दृष्टिमूढस्य सर्वदा।
भाव्यभावनया सा तु स्वस्थस्यादृष्टरूपिणी॥ ६३॥

अन्वयः- मूहस्य दृष्टिः सर्वदा भावनाभावनासक्ता (भवति) स्वस्थस्य तु सा भाव्यभावनया अदृष्टरूपिणी (भवति) ॥ ६३ ॥

मूर्ख देहाभिमानी पुरुष की दृष्टि सर्वदा संकल्प और विकल्प के विषें आसक्त होती है और आत्मस्वरूपके विषें स्थित ज्ञानी की दृष्टि यद्यपि संकल्पविकल्पयुक्तसी दीखती है परंतु तथापि संकल्पविकल्प के लेप से शुद्ध रहती है, क्योंकि ज्ञानी को 'अहं करोमि ऐसा अभिमान नहीं होता है ॥ ६३॥

सर्वारम्भेषु निष्कामो यश्चरेद्बालवन्मुनिः। न लेपस्तस्य शुद्धस्य क्रियमाणेऽपि कर्मणि॥ ६४॥

अन्वयः- यः मुनिः बालवत् सर्वारम्भेषु निष्कामः चरेत् तस्य शुद्धस्य कर्मणि क्रियमाणे अपि लेपः न (भवति) ॥ ६४ ॥

तहाँ वादी शंका करता है कि, यदि ज्ञानी संकल्पविकल्प कर के क्रिया करता है तो उस की द्वैतबुद्धि क्यों नहीं होती है ? तिस का समाधान करते हैं किजो ज्ञानी पुरुष बालक की समान निष्काम होकर प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए कर्मों के विषें प्रवृत्त होता है उस निरंहकार ज्ञानी को कर्म करनेपर भी कर्तृत्व का दोष नहीं लगता है क्यों के उस को तो कर्तापने का अभिमानही नहीं होता है ॥ ६४॥

स एव धन्य आत्मज्ञः सर्वभावेषु यः समः ।
पश्यञ्मृण्वन्स्टशञिघनश्ननिस्तषमानसः॥ ६५॥

अन्वयः- सः एव आत्मज्ञः धन्यः यः सर्वभावेषु समः (भवति अत एव सः) पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अनन् (अपि) निस्तर्षमानसः (भवति) ॥ ६५ ॥

वही धैर्यवान ज्ञानी धन्य है, जो संपूर्ण भावों में समानबुद्धि रखता है, इस कारण ही वह देखता हुआ, श्रवण करता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ और भोजन करता हुआ भी सब प्रकार की तृष्णारहित मनवाला होता है ॥६५॥

कसंसारक चाभासः क्व साध्यं क च साधनम् ।
आकाशस्येव धीरस्य निर्विकल्पस्य सर्वदा॥ ६६॥

अन्वयः- आकाशस्य इव सवदा निर्विकल्पस्य धीरस्य संतारः क आभासः च क साध्यम् व साधनम् च क ॥ ६६ ॥

जो धैर्यवान ज्ञानी है, वह संपूर्ण संकल्पविकल्परहित होता है, उस को संसार कहां ? और संसारकाभान कहाँ और स्वर्गादिसाध्य कहां तथा यज्ञ आदि साधन कहां ! क्योंक वह सदा आकाशवत् निर्लेप और कल्पनारहित होता है॥ ६६ ॥

स जयत्यर्थसंन्यासी पूर्णस्वरसविग्रहः।
अकृत्रिमोऽनवच्छिन्ने समाधियस्य वर्तते ॥ ६ ॥

अन्वय:- पूर्णस्वरमविग्रहः सः अर्थसंन्यासी जयति यस्य अनबच्छिन्न अकृत्रिमः समाधिः वर्तते ॥ ६७ ॥

पूर्ण स्वभाववाला है स्वरूप जिस का ऐसे अर्थ कहिये दृष्ट और अदृष्ट फल को त्यागनेवाले की जय (सर्वोपरि उन्नति) होती है, जिस का पूर्णस्वरूप आत्मा के विषें स्वाभाविक समाधि होता है ॥ ६ ॥

बहुनात्र किमुक्तेन ज्ञाततत्त्वो महाशयः ।
भेगमोक्षनिराकांक्षी सदा सात्रनीरसः॥ ६८॥

अन्वय:- अत्र बना उक्तत किम् ? (यतः) ज्ञानतत्त्व: महाशयः भोगमे क्षानराकांक्ष सदा सत्र नीरमः (भवति ॥ ६८॥

ज्ञानी पुरुष के अनेक प्रकार के लक्षण हैं उन का पूर्णरीतिसे तो वर्णन करना कठिन है परन्तु ज्ञानी पुरुषका एक साधारण लक्षण यह है कि यहां ज्ञानीक बहुत लक्षण कहने से कुछ प्रयोजन नहीं है. कंबल साधारण लक्षण यह है कि, ज्ञानी आत्मतत्व का जाननेवाला, आत्मस्वरूप के वि मन, भोग और मोक्षकी इच्छा से रहित तथा सदा याग आदि साधनों के विषें प्रीति न करनेवाला होता है ॥ ६८॥

महदादि जगद्वैतं नाममात्रविजृम्भितम् ।
विहाय शुद्धबोधस्य किं कृत्यमवशिष्यते ॥ ६९॥

अन्वय:- दैतम् नाममात्रविजृम्भितम् महदादि जगत् विहाय शुद्धबोधस्य किम् कृत्यम् अवशिष्यते ॥ ६९ ॥

द्वैत रूप से भसनेवाले, नाममात्र ही भिन्नरूपसे भासमान, महत्तत्व आदि जगत् के विषें कल्पना को दूर कर के स्वप्रकाश चैतन्यस्वरूप ज्ञानी को क्या कई कार्य करना बा की रहता है ? अर्थात् कोई कार्य करना नहीं रहता है ॥ ६९॥

भ्रमभूतमिदं सर्व किञ्चिन्नास्तीति निश्चयी ।
अधक्ष्यस्फरणः शुद्धः। स्वभावेनैव शाम्याते॥ ७॥

अन्वय:- इदम् सर्वम् भ्रमभूतम् (परमार्थतः) किञ्चित् न अस्ति इति निश्चयी अलक्ष्यस्फुग्णः शुद्धः स्वभावेन एव शाम्यति ॥ ७० ॥

अधिष्ठान का साक्षात्कार होनेपर यह संपूर्ण विश्व 'भ्रममात्र है, परमार्थहाष्ट से कुछ भी नहीं है, इस प्रकार जिस का निश्चय हुआ ह र स्वप्रकाश चेतनस्वरूप तथा स्वरूप के साक्षात्कार से दूर हो गया है अज्ञानरूप मल जिस का ऐसा ज्ञानी स्वभाव से ही शांति को प्राप्त होता है। ॥ ७० ॥

शुद्धस्फुरणरूपस्य दृश्यभावमपश्यतः।
क विधिः क च वैराग्यं क त्यागःकशमोऽपिवा॥७॥

अन्वय:- शुद्धस्फुरणरूपस्य दृश्यभावम् अपश्यतः (ज्ञानिनः) विधिः क वैराग्यम् व त्यागः व अपि वा शमः च क ॥ ७१ ॥

शुद्ध स्फुरणरूप अर्थात् स्वप्रकाशचेतनस्वरूप और दृश्य पदार्थोको भी न देखनेवाले ज्ञानी को किसी कर्म के करने की विधि कहां ? और विषयों से वैराग्य कहां ? और त्याग कहां? तथा शांतिभो करना कहां? यह सब तो ता हो सकता है जब सांसारिक पदार्थाक वि हाट होती है ॥ ७१॥

स्फुरतोऽनन्तरूपेण प्रकृतिं च न पश्यतः ।
क्क बन्धः क च वा मोक्षः व हर्षैःक्, विषादता॥७२॥

अन्वय:- अनन्तरूपेण स्फुरतः प्रकृतिम् च न पश्यतः (ज्ञानिनः) बन्ध. व मोक्ष कहः क वा विषान्ता च क ॥ ७२ ॥

जो ज्ञानी है वह अनंतरूप कर के भासता है और आत्माकोजानता है और देहादि के विषें दृष्टि नहीं लगाता है, उस को संसार का बंधन नहीं होता है, मोक्ष की इच्छा नहीं होती है, हर्ष नहीं होता है और विषाद भी नहीं होता है ॥ ७२॥

बुद्धिपर्यन्तसंसारे मायामात्र विवतते।
निर्मपो निरहंकारो निष्कामः शोभते बुधः॥७३॥

अन्वय:- बुद्धिपर्यन्तसंमारे मायामात्रम् विवर्त्तते (अतः) बुधः निर्ममः निहिङ्कारः निष्कामः शोभते ॥ ७ ॥

यह जगत् अज्ञान से भासता है और ज्ञान से जब मायामात्र (अज्ञान) निवृत्त हो जाता है तब ज्ञानस्वरूप आत्मा ही शेष रहता है इस कारण ज्ञानी को इस संसारमें

ममता अहंकार तथा इच्छा नहीं होती है, इस कारण ब्रह्माकारात्तेकर के अत्यंत शोभायमान होता है ॥७३॥

अक्षयं गतसन्तापमात्मानं पश्यतो मुनः।
क विद्या कच वा विश्वंक देहाऽहं ममति वा ॥७४॥

अन्वयः- अक्षयम् गतसन्तापम् आत्मानम् पश्यतः मुनेः विद्या क वा विषयक दहः वा अहम् मम इति च क ॥ ७४ ॥

अविनाशी संतापरहित ऐसे आत्मस्वरूप का जिसको ज्ञान हुआ है ऐसे ज्ञानी को विद्या (शास्त्र) कहां ? और विश्व कहां ? और देह कहां ? तथा अहंममभाव कहाँ ? क्योंकि उस को आत्मा से भिन्न अन्य स्फुरण ही नहीं होता है ॥ ७४॥

निरोधादीनि कर्माणिजहाति जडधीयदि।
मनोरथान्प्रलापांश्च कर्तुमानोत्यतत्क्षणात्॥७९॥

अन्वयः- जडधीः यदि निरोधादीनि कर्माणि जहाति (तर्हि) अतत्क्षणात् मनोरथान प्रलापान च कर्तुम् आनोति ॥ ७५ ॥

जो मूढबुद्धि देहाभिमानी पुरुष है वह अति परिश्रम कर के मन का निरोध करता है परंतु निरोध समाधिके छूटते ही उस का मन फिर तुरंत ही अनेक प्रकार से संकल्प विकल्प करने लगता है और प्रलाप आदि संपूर्ण व्यापारों को करने लगता है इस कारण ज्ञान के बिना निरोध कुछ काम नहीं देता है ॥ ७५ ॥

मन्दः श्रुत्वापि तद्वस्तु न जहाति विमूढताम् ।
निर्विकल्पो बहियत्नादन्तविषयलालसः॥७६॥

अन्वयः- मन्दः तत् वस्तु श्रुत्वा अपि विमूहताम् न जहाति (अतः मूढः) यत्नात् बहिः निर्विकल्पः अन्तः विषयलालस: (भवति)॥ ७६ ॥

जो देहाभिमानी मूढ पुरुष है वह वेदांतशास्त्रके अनेक ग्रंथों के द्वारा आत्मस्वरूप को सुनकर भी देहाभिमान को नहीं त्यागता है. यद्यपि अति परिश्रम करके ऊपर से त्याग दिखाता है परंतु मन में अनेक विषयवासना रहती है ॥ ७६॥

ज्ञानाद्गलित का यो लोकदृष्ट्यापि कर्मकृत् ।
नाप्नोत्यवसरं कर्तुं वक्तुमेव न किञ्चन ॥ ७७॥

अन्वयः- यः ज्ञानात् गलितकर्मा (सः) लोकदृष्ट्या कर्मका अपि किञ्चन कर्तुम् न वक्तुम एव (च) अवसरम् न आमोति॥७७॥

ज्ञानी लोकाचार के अनुसार कर्म करता है परंतु ज्ञान के प्रतापले कर्मफल की इच्छा नहीं करता है क्योंकि वह केवल आत्मस्वरूप के विषें लीन रहता है तिस से उस को कर्म करने का अथवा कहने का अवसर नहीं मिलता है ॥ ७॥

कतमःव प्रकाशोवा हान क च न किञ्चन । निर्विकारस्य धीरस्य निरातङ्कस्य सर्वदा॥७८॥

अन्वयः- सर्वदा निरातकस्य निर्विकारस्य धीरस्य तमः कवा प्रकाशः क हानम् च क (तस्य) किश्चन न (भवति) ॥७८॥

जो ज्ञानी है वह निर्विकार होता है, उस को काल आदि का भय नहीं होता है, उस को अंधकार का भान नहीं होता है, प्रकाश का भान नहीं होता है, उसको किसी बात की हानि नहीं होती है, भय नहीं होता है, वह सर्वदा मुक्त होता है ॥ ७८॥

व धैर्य क विवेकित व निरातंकतापिवा। अनिर्वाच्यस्वभावस्य निःस्सभावस्य योगिनः॥७९॥

अन्वयः- तिर्वाच्यस्वभावस्य निःस्वभावस्य योगिनः धैर्यम कविवेकित्वम् क अपि च निरातङ्कता क ॥ ७१ ॥

ज्ञानी का स्वभाव किसी के ध्यान में नहीं आता है। क्योंकि ज्ञानी स्वभावरहित होता है उस का धीरजपना, ज्ञानीपना तथा निर्भयपना नहीं होता है ॥ ७९ ॥

नस्वर्गौं नैव नर को जीवन्मुक्तिन चैव हि ।
बहुनात्र किमुक्तेन योगदृष्ट्यान किञ्चन ॥८॥

अन्वयः- अत्र बहुना उक्तेन किम योगदृष्टया स्वर्गः न नरकः न एव हि जीवन्मुक्तिः च एव न, किश्चन न (भवति)॥८॥

जिस ज्ञानी की सर्वत्र आत्मदृष्टि हो जाती है उसको स्वर्ग, नर्क और मुक्ति आदि का भेद नहीं होता है अर्थात् अधिक कहने से क्या प्रयोजन है, ज्ञानी पुरुष को किसी प्रकार का भी भेद नहीं भासता है ॥८॥

नैवं प्रार्थयते लाभं नालाभेनानुशोचति।
धीरस्य शीतलं चित्तममृतेनैव पूरितम् ॥८॥

अन्वयः- (धीरः) लामम् प्रार्थयते न एवम् अलामेन अनुशोचति न (अतः) धीरस्य चित्तम् अमृतेन पूरितम् शीतलमा एव (भवति) ॥ ८१ ॥

जो ज्ञानी है वह लाभ की इच्छा नहीं करता है और लाभ नहीं होते तो शोक नहीं करता है और इस कारण ही धैर्यवान् ज्ञानी का चित्तज्ञानामृत से परिपूर्ण और इसी कारण शीतल कहिये तापत्रयरहित होता है ॥ ८१॥

नशान्तं स्तौति निष्कामो न दुष्टमपि निन्दति।
समदुःखसुखस्तृप्तः किञ्चित्कृत्यं न पश्यति ॥ ८२॥

अन्वय:- निष्कामः शान्तम् न स्तौति; दुष्टम् अपि न निन्दति, एसः (सन) समदुःखसुखः (भवति) (निष्कामत्वात) किंश्चित् कृत्यम् न पश्यति ॥८२॥

जो पुरुष कामनाशून्य ज्ञानी है वह किसी शांत पुरुष को देखकर प्रशंसा नहीं करता है और दुष्ट को देखकर निंदा नहीं करता है क्योंकि वह अपने ज्ञानरूपी अमृत से तृप्त होता है तिस कारण सुखदुःख की कल्पना नहीं करता है, तथा किसी कृत्य को नहीं देखता है ॥ ८२ ॥

धीरो न द्वेष्टि संसारमात्मानं न दिदृक्षति ।
हर्षामर्षविनिर्मुक्तो न तोनचजीवति॥८३॥

अन्वय:- हर्षामर्षविनिर्मुक्तः धीरः संसारम् न देटि; आत्मानम् न दिदृक्षति; न मृतः (भवति); न च जीवति ॥ ८३ ॥

जो धैर्यवान अर्थात् ज्ञानी है वह संसार का द्वेष नहीं करता है तथा आत्मा को देखने की इच्छा नहीं करता है, क्योंकि वह स्वयं ही आत्मस्वरूप है इस कारण उसको हर्ष तथा शोक नहीं होता है और जन्ममरणरहित होता है॥ ८३॥

निःस्नेहः पुत्रदारादौ निष्कामो विषयेषु च ।
निश्चिन्तःस्वशरीरेऽपि निराशः शोभते बुधः॥ ८४॥

अन्वय:- पुत्रारादी निःस्नेहः, विषयेषु च निष्कामः, स्वशरीरे मपि निश्चिन्तः; निराशः, बुधः शोभते ॥ ८४ ॥

पुत्र स्त्री आदि के विषेप्रीति न करनेवाला, विषयोंके नादिक की चिन्ता न करनेवाला, इस प्रकार सर्वत्र आशारहित ज्ञानी शोभा को प्राप्त होता है ॥ ८४॥

तुष्टिः सर्वत्र धीरस्य यथा पतितवर्तिनः।
स्वच्छन्दं चरतो देशान्यवास्त-मितशायिनः॥ ८॥

अन्वय:- यत्रास्तमितशायिनः देशान् स्वच्छन्दम् चरतः, वथापतितवर्तिनः धीरस्य सर्वत्र तुष्टि (धवनि) ॥ ८५ ॥

जो ज्ञानी पुरुष है, उस को जो कुछ प्रारब्धानुसार मिल जाय उसस ही वह वर्ताव करता है और परम संतोपको प्राप्त होता है, तदनंतर अपनी दृष्टि जिधर को उठ जाती है उनी देशों में विचरता है और जहां ही सूर्य अस्त होय तहां ही शयन करता है ॥ ८५॥

पततूहेतु वा देहो नास्य चिन्ता महात्मनः ।
स्वभावभूमिविश्रान्तिविस्मृताशेषसंसृतेः ॥ ८६ ॥

अन्वयः- देहः पततु वा उदेतु, स्वभावभूमिविश्रान्तिविस्मृताशेपसंमृतेः महात्मनः अस्य चिन्ता न (भवति) ॥८६ ॥

देह नष्ट होय अथवा रहे परंतु अपने स्वरूपरूपी भूमि के विश्रामकर के संपूर्ण संसारकोभूलनेवाले ज्ञानीको इस देह की चिंता नहीं होती है ॥८६॥

अकिञ्चनः कामचारो निन्द्वश्छिन्नसंशयः ।
असक्तः सर्वभावेषु केवलो रमते बुधः ॥८७॥

अन्वयः- अकिञ्चनः कामचारः निर्द्वन्द्वः छिन्नसंशयः सर्वभावेषु असक्तः वुधः केवलः रमते ॥ ८७ ॥

जो ज्ञानी है वह इकला ही आत्मस्वरूप के विषें रमता है, कुछ पास नहीं रखता है, तथापिअपनी इच्छानुसार बर्ता करता है, सुखदुःखते रहित होता है, ज्ञानी को संशय नहीं होता है और संपूर्ण विषयों से विरक्त रहता है॥८७॥

निर्ममः शोभते धीरः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
सुभिन्नहृदयग्रन्थिविनिधूतरजस्तमः ॥८८॥

अन्वयः- निर्ममः समलोष्टाश्मकाञ्चनः सुभिन्नहृदयग्रन्थिः विनिर्धूतरजस्तमः धीरः शोभते ॥ ८८ ॥

ममता का त्यागनेवाला, मट्टी. पत्थर और सुवर्णको समान माननेवाला आर दूर हो गई है हृदय की अज्ञानरूपी ग्रंथि जिस की ऐसा और दूर हो गये हैं रज और तमगुण जिस के ऐसा ज्ञानी शोभा को प्राप्त होता है ॥८८॥

सर्वत्रानवधानस्य न किञ्चिद्वासना हृदि ।
मुक्तात्मानो वितृप्तस्य तुलना केन जायते ॥ ८९॥

अन्वयः- सर्वत्र अनवधानस्य हदि किञ्चित् वासना न (भवति); (अतः) मुक्तात्मनः वितृप्तस्य (तस्य) केन तुलना जायते ॥ ८९॥

जिस की संपूर्ण विषयों में आसक्ति नहीं है और जिसके हृदय के विषें किंचिन्मात्र भी वासना नहीं है और जो मात्मानंद के विषें तृप्त है, ऐसे जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुषकी समान त्रिलो की में कौन हो सकता है ॥ ८९ ॥

जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपिन पश्यति। ब्रुवन्नपि न च ब्रूते कोऽन्यो निवासनाहृते ॥९॥

अन्वयः- (यः) जानन् अपि न जानाति, पश्यन् अपि न पश्यति ब्रुान् अपि च न ब्रूते; (सः) निर्वासनात् ऋते अन्यः कः ? ॥९ ॥

जो जानता हुआ भी नहीं जानता है, देखता हुआभी नहीं देखता है, बोलता हुआ भी नहीं बोलता है, ऐसा पुरुष ज्ञानी के सिवाय जगत् में और दूसरा कौन है ? अर्थात् कोई नहीं है, क्योंकि ज्ञानी को अभिमान तथा वासना नहीं होती है ॥९॥

भिक्षुर्वा भूपतिवापि यो निष्कामः स शोभते।
भावेषु गलिता यस्य शोभनाशोभना मतिः॥९॥

अन्वयः- यस्य मावेषु शोमनाशीमना मतिः गलिता, (एताहुशः यः) निष्कामः सः भिक्षुः वा अपि वा भूपतिः शोभते॥९॥

जिस ज्ञानी की शुभ पदार्थों में इच्छा बुद्धि नहीं होती है और अशुभ पदार्थों में द्वेषबुद्धि नहीं होती है ऐसा जो कामनारहित ज्ञानी है वह राजा हो तो विदेह (जनक) समान शोभित होता है और भिक्षु होय तो परम ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्यमुनि की समान शाभाको प्राप्त होता है क्यों कि आत्मानद के विषें मन पुरुषको राज्य बंधन नहीं करता है और त्याग माक्षदायक नहीं होता है । ९१॥

कस्वाच्छन्ध कसंकोचःकवा तत्वविनिश्चयः ।
निर्व्याजाजवभूतस्व चरितार्थस्य योगिनः॥९२॥

अन्वयः- नियाजावभूतस्य चरितार्थस्य योगिनः स्वान्छन्धम् क सङ्कोचः क वा तत्त्वांवनिश्चयः क ॥ ९२ ॥

जिस पुरुष का मन कपटरहित और कोमलतायुक्त है और जिसने आत्मज्ञानरूपी कार्य को सिद्ध किया है, ऐसे जीवन्मुक्त पुरुष को स्वाधीनपना नहीं होता है और पराधीनपना भी नहीं होता है, तत्व का निश्चय करनाभी नहीं होता है, क्योंकि उस का देहाभिमान दूर हो जाता है ॥ ९२ ॥

आत्मविश्रान्तितृप्तेन निराशेन गतातिना ।
अन्तर्यदनुभूयेत तत्कथं कस्य कथ्यते॥९३॥

अन्वयः- आत्मविश्रान्तितृप्तेन निराशेन गतातिना (ज्ञानिना) अन्तः यत् अनुभूयेत, तत् कथम् कस्य कथ्यते ॥ ९३ ॥

जो पुरुष आत्मस्वरूप के विषें विश्रामरूपअमृतका पान कर के तृप्त हुआ है और आशामात्र निवृत्त हो गई है तथा जिस के भीतर की पीडा शांत हो गई है ऐसा ज्ञानी अपने अंतःकरण के विषें जो अनुभव करता है, उस को प्राणी किस प्रकार कह सकता है और उस अनुभव को किस को कहां जाय ? क्योंकि इस का आधिकारी दुर्लभ है ॥ ९३॥

सुप्तोऽपिन सुषुप्तौ च स्वप्नेऽपि शायतो नच।
जागरेऽपि न जागति धीरस्तृप्तःपदे पदे ॥९४ ॥

अन्वयः- पदे पदे तृप्तः धीः सुषुमो भी च न सुप्ता, स्वप्ने अपि च न शयितः, जागरे अपि न जागति ॥ ९४ ॥

ज्ञानी की सुषुप्ति अवस्था दीखती है परंतु ज्ञानी सुषुप्ति के वशीभूत नहीं होता है, स्वप्नावस्था भासती है परंतु ज्ञानी शयन नहीं करता है किंतु साक्षीरूप रहता हे और जाग्रदअवस्था भासती है परंतु ज्ञानी जाग्रदवस्था के विकारों से अलग रहता है क्योंकि यह तो न अवस्था बुद्धि की है और जो बुद्धि से पर है और आत्मानंद से तृप्त है ॥ ९४॥

ज्ञः सचिन्तोऽपि निश्चिन्तः सेंद्रियोऽपि निरिन्द्रियः।
सुबुद्धिरपि निर्बुद्धिः साहङ्कारोऽनहंकृती॥९५॥

अन्वयः- ज्ञः सचिन्तःअपि निश्चिन्तः (भवति), सेन्द्रियः अपि निरिन्द्रियः (भात); सुबुद्धिः अपि निद्धिः (भवति); साहंकारः अपि निरहंकृतिः (भवात) ॥ ९५ ॥

ज्ञानी को चिंता है ऐसा लोकों के देखने में आता है परंतु ज्ञानी निश्चित होता है, ज्ञानी इंद्रियोंतहित दीखता है परंतु वास्तव में ज्ञान इंद्रियरहित होता है, व्यवहारमें ज्ञानी चतुरबुद्धिवाला दीखता है, परंतु बानी बुद्धिरहित होता है और ज्ञानी अहंकारयुक्तसा दीखता है परंतु ज्ञानी को अहंकार का लेश भी नहीं होता है ॥ ९५ ॥

न सुखीन च वा दुःखी न विरक्तो न सङ्गवान्।
न मुमुक्षुने वा मुक्तो न किञ्चिन्नच किञ्चन॥ २६॥

अन्वयः- (ज्ञानी) न सुखी; वा न च दुःखी; न विरक्तः, न सङ्गवान् न मुमुक्षु वा न मुक्तः, न किञ्चित् न च किञ्चन ॥१६॥

ज्ञानी सुखी नहीं होता है, दुःखी नहीं होता है, विरक्त नहीं होता है, आसक्त नहीं होता है, मोक्षकी इच्छा नहीं करता है, मुक्त नहीं होता है, सत्रूप, अनिर्वचनीय होता है ॥ ९६॥

विक्षेपेऽपिन विभिप्तःममाधौ न ममाधिमान् ।
जाड्यापन जडो धन्यः पाण्डित्यऽपिन पण्डितः॥२७॥

अन्वय:- धन्यः विक्षपे अपि लिक्षिप्त. न, ममाचौ समाधिमान् म, जाडये अपि जड. न; पाण्डिन्ये अपि पण्डित न ॥ ९७ ॥

ज्ञानी का विक्षेप दीखता है परंतु ज्ञानी विक्षिप्त नहीं होता है, ज्ञानी की समाधि दीखती है परंतु ज्ञानी समाधि नहीं करता है, ज्ञानी के विपें जडपना दीखता है परंतु ज्ञानी जड नहीं होता है तथा ज्ञानी में पंडितपना दोखता है परंतु ज्ञानी पंडित नहीं होता है, क्योंकि यह संपूर्ण विकार देहाभिमानी के वर्षे रहते हैं ॥ ९७॥

मुक्तो यथास्थितिव यः कृतकर्तव्यनिवृतः।
समः सर्वत्र वैतष्ण्यान्न स्मरत्यकृतं कृतम् ॥ ९८॥

अन्वय:- यथास्थितिस्वस्थः कृत कर्नव्यनिर्वृतः सर्वत्र समः मुक्तः बैतडण्यात कृतम् अकृतम् न स्मरति ॥ ९८॥

जैसी अवस्था प्राप्त होय उसमें ही स्वस्थ रहनेवाला और किये हुए और कर्तव्यकर्मों के विषें अहंकार और उद्वेग न करनेवाला अर्थात् संतोषयुक्त तथा सर्वत्र आत्मदृष्टि करनेवाला जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुष तृष्णा के न होने से यह कार्य किया, यह नहीं किया ऐसा स्मरण नहीं करता है ॥ ९८॥

न प्रीयते वन्धमानो निंद्यमानो न कुप्यति ।
नैवोदि्जति मरणेजीवने नाभिनन्दति॥९९॥

अन्वय:- (ज्ञानी) वंद्यमानः प्रीयते न निन्द्यमानः कुप्यति न; मरणे उद्विजति न; एव जीवने अभिनन्दति न ॥ ९९ ॥

जो ज्ञानी है उस की कोई प्रशंसा करे तो प्रसन्न नहीं होता है और निंदा करे तो कोप नहीं करता है, तिसी प्रकार मृत्यु भी सामने आता दीखे तो भी ज्ञानी घबडता नहीं है और बहुत वर्षांपर्यंत जीवें तो भी प्रसन्न नहीं होता है ॥ ९९ ॥

न धावति जनाकीर्ण नारण्यमुपशान्तधीः ।
यथा तथा यत्र तत्र सम एवावतिष्ठते ॥१०॥

अन्वयः- उपशान्तधीः जनाकीर्णम् न धावति, (तथा) अरण्यम् न (धावति) किन्तु यत्र तत्र यथा तथा समः एव अवतिष्ठते ॥ १००॥

जिस ज्ञानी की वृत्ति शांत हो गई है वह जहां मनुष्यों की सभा होय तहां जाने की इच्छा नहीं करता है, तिसी प्रकार निर्जन स्थान जो वन तहां भी जाने की इच्छा नहीं करता है, किंतु जिस समय जो स्थान मिल जाय तहां ही स्थिति कर के निवास करता है, क्योंकि नगरमें तथा वन में ज्ञानी की एक समान बुद्धि होती है अर्थात् ज्ञानी की दृष्टि में जैसा नगर है वैसा ही वन होता है॥ १००॥

इति श्रीमदष्टावक्रमनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां भाषाटीकया सहितं शान्तिशतकं नामाटादश प्रकरणं समाप्तम् ॥ १८॥

====

अथैकोनविंशतिकं प्रकरणम् १९.

तत्त्वविज्ञानसंदंशमादाय हृदयोदरात् ।
नानाविधपरामर्शशल्योद्धारः कृतोमया॥ १ ॥

अन्वयः- मया हृदयोदरात् तत्त्वविज्ञानसंदंशम् आदाय नानाविधपरामर्शशल्योद्धारः कृतः ॥ १॥

श्रीगुरु के मुख से साधनसहित ज्ञान का श्रवण करके शिष्य को आत्मस्वरूप के विषें विश्रामप्राप्त हुआ, तिसका सुख आठ श्लोकोंकर के वर्णन करते हैं। हे गुरो! आपसे तत्वज्ञानरूप सांडसी को लेकर अपने हृदय में से नाना प्रकार के संकल्पविकल्परूप कांटे को दूर कर दिया ॥ १॥

कधर्मःकच वा कामः क चार्थः क विवेकिता।
कद्वैतंक च वाद्वैतं स्वमहिनि स्थितस्य मे॥ २॥

अन्वयः- स्वमहिम्नि स्थितस्य से धमः क, वा कामः च क; अर्थः क; विवकिता च का द्वैतम् क; वा अद्वैतम् च के ॥ २॥

हे गुरो ! धर्म अर्थ काम मोक्ष इन चारों का फल तुच्छ है, इस कारण तिन धर्मादिरूप कांटे को दूर करके आत्मस्वरूप के विषें स्थिति को प्राप्त हुआ जो मैं तिस मुझे द्वैत नहीं भासता है, इस कारण ही मुझे अद्वैतविचार भी नहीं करना पडता है, क्योंकि “ उत्तीर्णे तु परे पारे नोकायाः किं प्रयोजनम् “ जब परली पार उतर गये तो फिर नौ का की क्या आवश्यकता है ? इस कारण जब द्वैत का भान ही नहीं है तो फिर अद्वैत विचार करने से फल ही क्या ? ॥ २॥

क भूतं व भविष्यद्वा वर्तमानमपि क वा ।
क देशः व चवा नित्यं स्वमहिनि स्थितस्य मे ॥३॥

अन्वयः- नित्यम् स्वमहिनि स्थितस्य मे भूतम् क वा भविष्यत् क, अपि वा वर्तमानम् क, देशः क (अन्यत्) च वा क॥ ३ ॥

नित्य आत्मस्वरूप के विषें स्थित जो मैं तिस मुझे भूतकाल कहां है, भविष्यत् काल कहाँ है, वर्तमानकाल कहां है, देश कहां है तथा अन्य वस्तु कहां है ?॥३॥

व चात्मा क चवानात्मा क शुभकाशुभं तथा ।
कचिन्ताक चवाचिन्ता स्वमहिम्निस्थितस्य मे॥४॥

अन्वयः- स्वमहिम्नि स्थितस्य मे आत्मा क बा अनात्मा च क; शुभम् क तथा अशुभम् क. चिन्ता कवा अचिन्ता च व ॥ ४ ॥

आत्मस्वरूप के विषें स्थित जो मैं तिस मुझे आत्मा, अनात्मा, शुभ, अशुभ, चिंता और अचिंता यह नाना प्रकार भेद नहीं भासता है ॥४॥

कस्वप्नःक्क सुषुप्तिा क च जागरणं तथा।
व तुरीयं भयं वापि स्वमहिम्नि स्थितस्य मे॥५॥

अन्वयः- स्वमहिम्न स्थितस्य मे स्वप्नः व वा सुषुप्तिः च क, तथा जागरणम् क्व, तुरीयम् अपि वा भयम् व ॥५॥

आत्मस्वरूप के विषें स्थित जो मैं तिस मेरी स्वप्नावस्था नहीं होती है, सुषुप्ति अवस्था नहीं है तथा जायत् अवस्था नहीं होती है, क्योंकि यह तीनों अवस्था बुद्धि की हैं, आत्मा की नहीं हैं, मेरी तुरीयावस्थाभी नहीं होती है तथा अंतःकरणधर्म जो भय आदि सोभी मुझे नहीं होता है ॥५॥

क दूरंक समीपं वा बाह्य काभ्यन्तरं कवाक
स्थूलंकच वा सूक्ष्म स्वमहिम्नि स्थितस्य मे॥६॥

अन्वयः- स्वमहिम्नि स्थितस्य मे दूरम् क वा समीपम् क्व, बाह्यम् क वा आभ्यन्तरम् क, स्थूलम् क्व वा सूक्ष्मम् च व ॥ ६ ॥

दूरपना, समीपपना, बाहरपना, भीतरपना, मोटापना तथा सूक्ष्मपना ये सब मेरे विषें नहीं हैं क्योंकि मैं तो सर्वव्यापी आत्मस्वरूप में स्थित हूं॥६॥

जिगाट क मृत्यु वितं वा व लोकाः कास्य क लौकिकम् ।
क लयः व समाधिवा स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ॥ ७॥

अन्वयः- स्वमहिम्नि स्थितस्य अस्य मे मृत्युः क, जीवितम् क, लोकाः क्व वा लौकिकम् क्व, लयः क्व वा समाधिः क्व ॥ ७॥

आत्मस्वरूप के विषें स्थित जो मैं तिस मेरा मरण नहीं होता है, जीवन नहीं होता है, क्योंकि मैं तो त्रिकाल में सत्यरूपह, केवल आत्मामात्र को देखनेवाला जो में तिस मुझे भू आदि लोकों की प्राप्ति नहीं होती है इसी कारण मुझे कोई लोकिक कार्य भी कर्तव्य नहीं है। मैं पूर्णात्मा हूं, इस कारण मेरा लय वा समाधि नहीं होती है ॥७॥

अलं त्रिवर्गकथया योगस्य कथयाप्यलम् ।
अलं विज्ञानकथया विश्रान्तस्य ममात्मनि ॥८॥

अन्वयः- आत्मनि विश्रान्तस्य मम त्रिवर्गकथया योगस्य कथया अलम् विज्ञानकथया अपि अलम् ॥ ८॥

आत्मा के विषें विश्राम को प्राप्त हुआ जो मैं तिसमझे धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्ग की चर्चा से कुछ प्रयोजन नहीं है, योग की चर्चा कर के कुछ प्रयोजन नहीं है, तथा ज्ञान की चर्चा करने से भी कुछ प्रयोजन नहीं है ॥ ८॥

इति श्रीमदष्टावक्रमुनिकृतायां ब्रह्मविद्यायां भाषाटीकया सहितकोनविंशतिकं प्रकरणं समाप्तम् ॥ १९॥

=====

अथ विंशतिकं प्रकरणम् २०.

क भूतानि व देहो वा केन्द्रियाणि क वा मनः ।
क शून्यं क च नैराश्यं मत्स्वरूपे निरञ्जने॥ १ ॥

अन्वयः- निरञ्जने मत्स्वरूपे भूतानि क्व वा देहः क्व, इन्द्रियाणि क वा मनः क्व, शून्यम् क्व, नैराश्यम् क्व च ॥ १ ॥

पूर्व वर्णन की हुई आत्मस्थिति जिस की हो जाय उस जीवन्मुक्त की दशा का इस प्रकारण में चौदह श्लोकोंकर के वर्णन करते हैं कि, हे गुरो! मैं संपूर्ण उपाधिरहित हूं, इस कारण मेरे विषें पंचमहाभूत तथा देह तथा इंद्रियें तथा मन नहीं है, क्योंकि में चेतनस्वरूपहूंतिसी प्रकार शून्यपना और निराशपना भी नहीं है ॥ १ ॥

क शास्त्रं क्वात्मविज्ञानं क्व वा निर्विषयं मनः ।
क तृप्तिः क वितृष्णात्वं गतद्वन्द्रस्य मे सदा ॥२॥

अन्वय:- सदा गतद्वन्द्वस्य मे शास्त्रम् क्क, आत्मविज्ञानम् क, वा निर्विषयम् मनः क्क, तृप्तिः क्क, वितृष्णात्वम् व ॥ २ ॥

शास्त्राभ्यास करना, आत्मज्ञान का विचार करना, मन को जीतना, मन में तृप्ति रखना और तृष्णा को दूर करना यह कोई भी मुझ में नहीं है, क्योंकि मैं इंदरहित हूं ॥२॥

क विद्याक्कच वांविद्या काहं वेदं मम कवा।
कबन्धः क्क च वा मोक्षःस्वरूपस्य वरूपिता ॥३॥

अन्वय:- (मयि) विद्या व वा विद्या च क्क, अहम् क्क इदम् क्क वा मम क्क, बन्धः क्क वा मोक्षः च क्क, स्वरूपस्य रूपिता व ॥३॥

अहंकाररहित जो मैं हूं तिस मेरे विषें विद्या अविद्या मैं हूं, मेरा है, यह है इत्यादि आभिमान के धर्म नहीं है तथा वस्तु का ज्ञान मेरे विषें नहीं है और बंध मोक्ष मेरे नहीं होते हैं, मेरा रूप भी नहीं है, क्योंकि मै चैतन्य मात्र हूं॥३॥

क प्रारब्धानि कर्माणि जीवन्मुक्तिरपि कवा ।
क तद्विदेहकैवल्यं निर्विशेषस्य सर्वदा॥४॥

अन्वय:- सर्वदा निर्विशेषस्य (मे) प्रारब्धानि कर्माणि क्क, वा जीवन्मुक्तिः अपि क्क, तद्विदेहकैवल्यम् क्क ॥ ४॥

सर्वदा निर्विशेष स्वरूप जो मैं तिस मेरे प्रारब्धकर्म नहीं होता है और जीवन्मुक्ति अवस्था तथा विदेहमुक्तिभी नहीं है क्योंकि मैं सर्वधर्मरहित हूं॥४॥

व कर्ता क्क च वा भोक्ता निष्क्रिंयं ग स्फुरणं व वा।
वापरोक्षं फलं वाक निःस्वभावस्य मे सदा ॥५॥

अन्वय:- सदा निःस्वभावस्य मे कर्ता व वा भोक्ता व वा निष्क्रियम् स्फुरणम् क्क, अपरोक्षम् व वा फलम् क्क ॥ ५ ॥

मैं सदा स्वभावरहित हूं, इस कारण मेरे विषें कर्तापना नहीं है, भोक्तापना नहीं है तथा विषयाकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यरूप फल नहीं है ॥५॥

कलोकः क्क मुमुक्षुर्वा क योगी ज्ञानवान् कवा।
कबद्धःकच वा मुक्तः स्वस्वरूपेऽहमद्वये॥६॥

अन्वय:- अहमद्रये स्वस्वरूपे लोकः क्क वा मुमुक्षुः क्क, योगी क, ज्ञानवान् क्क, बद्धः क्क वा मुक्तः च क्क ॥ ६ ॥

आत्मरूप अद्वैत स्वस्वरूप के होनेपर न लोक है, न मोक्ष की इच्छा करनेवाला हूं, न योगी हूं, न ज्ञानी हूं, नबंधन है, न मुक्ति है ॥६॥

व सृष्टिः क्व च संहारःक्व साध्यं क च साधनम् ।
व साधकः क सिद्धि स्वस्वरूपेऽहमद्रये ॥ ७॥

अन्वयः- अहम्-अद्वये स्वस्वरूपे सृष्टिः क, संहारः च व साध्यम् क्व, साधनम् च क्व, साधकः क्व वा सिद्धिः क्व ॥ ७॥

आत्मरूप अद्वैत स्वस्वरूप के होनेपर न सृष्टि है, न कार्य है, न साधन है और न सिद्धि है, क्योंकि मैं सर्वेधर्म रहित हूँ॥७॥

क प्रमाता प्रमाण वाक प्रमेयंक च प्रमा।
क किञ्चित्क न किञ्चिद्वा सर्वदा विमलस्य मे ॥ ८॥

अन्वयः- सर्वदा विमलस्य मे प्रमाणं वा प्रमाता क्व प्रमेयं क प्रमा च क्व किञ्चित् क्व न किञ्चित् क्व ॥ ८॥

आत्मा उपाधिरहित है तिस आत्मा के विषें प्रमाता, प्रमाण तथा प्रमेय ये तीनों नहीं है और कुछ है अथवा कुछ नहीं है, ऐसी कल्पना भी नहीं है ॥ ८॥

क विक्षेपः क चैकाम्यं क निर्बोधः क मूढता।
क हषः क विषादो वा सर्वदा निष्क्रियस्य मे ॥९॥

अन्वयः- सर्वदा निष्क्रियस्य मे विक्षेपः क्व ऐकाम्यं चक्व निर्बोधः क्व मूहता क्व हर्षः क्व विषादः क्व ॥ ९ ॥

मैं सदा निर्विकार आत्मस्वरूप हूं इस कारण मेरे विषें विक्षेप तथा एकाग्रता, ज्ञानीपना, मूढता, हर्ष और विषाद ये विकार नहीं है ॥ ९॥

कचैष व्यवहारो वा क च सा परमार्थता ।
व सुखं क च वा दुःखं निर्विमर्शस्य मे सदा ॥१०॥

अन्वयः- सदा निर्विमर्शस्य मे एषः व्यवहारः क्व वा सा परमार्थता च क्व, सुखं च क्व वा दुःखं च क्व ॥ १० ॥

मैं सदा संकल्पविकल्परहित आत्मस्वरूप हूं, इस कारण मेरे विषें व्यवहारावस्था नहीं है, परमार्थावस्था नहीं है और सुख नहीं है तथा दुःख भी नहीं है ॥१०॥

क्वमायाक च संसारःव प्रीतिर्विरतिः कवा।
क जीवः क्व च तद्ब्रह्म सर्वदा विमलस्य मे ॥११॥

अन्वय:- सर्वदा विमलस्य मे माया व संसारः च क्व प्रीतिः कवा विरतिः क जीवः क्व तत् ब्रह्म च क्व ॥ ११ ॥

मैं सदा शुद्ध उपाधिरहित आत्मस्वरूप हूं, इस कारण मेरे विषें माया नहीं है, संसार नहीं है, प्रीति नहीं है, वैराग्य नहीं है, जीवभाव नहीं है तथा ब्रह्मभावभी नहीं है ॥ ११ ॥

क प्रवृत्तिनिवृत्तिा क मुक्तिः क च बन्धनम् ।
कूटस्थनिर्विभागस्य स्वस्थस्य मम सर्वदा ॥ १२॥

अन्वय:- कूटस्थनिर्विभागस्य सदा स्वस्थस्य मम प्रवृत्तिः क. वा निवृत्तिः क, मुक्तिः क, बन्धनम् च क्व ॥ १२ ॥

आत्मस्वरूप जो मैं हूं तिस मेरे विषें प्रवृत्ति नहीं है, मुक्ति नहीं है तथा बंधन भी नहीं है ॥ १२॥

कोपदेशःव वा शास्त्रं क शिष्यः कं च वा गुरुः।
क चास्ति पुरुषार्थो वा निरुपाधेः शिवस्य मे ॥ १३ ॥

अन्वय:- निरुपाधेः शिवस्य मे उपदेशः क्व वा शास्त्रं व शिष्यः क्व वा गुरुः क्व वा पुरुषार्थः क्व च अस्ति ॥ १३ ॥

उपाधिशून्य नित्यानंदस्वरूप जो मैं हूं तिस मेरे अर्थ उपदेश नहीं है, शास्त्र नहीं है, शिष्य नहीं है, गुरु नहीं है तथा परम पुरुषार्थ जो मोक्ष सो भी नहीं है ॥१३॥

क चास्ति क च वा नास्ति क्वास्ति चैकं क च द्वयम् । बहुनात्र किमुक्तेन किञ्चिन्नोत्तिष्ठते मम ॥ १४॥

अन्वय:- (मम) अस्ति च क, वा न अस्ति च क्व, एक च के अस्ति, द्वयं च क्व, इह बहुना उक्तेन किम्, मम किञ्चित् न उत्तिष्ठते ॥ १४ ॥

मैं आत्मस्वरूप हूं इस कारण मेरे विषें अस्तिपना नहीं है, नास्तिपना नहीं है, एकपना नहीं है, द्वैतपना नहीं है इस प्रकार कल्पित पदार्थों की वार्ता करोडों वर्षापर्यंत कहूं तब भी हार नहीं मिल सकता, इस कारण से कहता हूं कि, मेरे विषें किसी कल्पना का भी आभास नहीं होता है, क्योंकि मैं एकरस चेतन स्वरूप हूं ॥१४॥

इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां भाषाटीकासहितं विंशतिकं प्रकरणं समाप्तम् ॥२०॥

======
अथैकविंशतिकं प्रकरणम् २१ ।

विंशतिश्चोपदेशे स्युःश्लोकाश्च पञ्चविंशतिः।
सत्यात्मानुभवोल्लासे उपदेशे चतुर्दश॥ १॥

अन्वयः- उपदेशे विंशतिः च स्युः । सत्यात्मानुभवोल्लासे च पञ्चविंशतिः । उपदेशे चतुर्दश ॥ १॥

अब ग्रंथकर्ताने इस प्रकरण में ग्रंथ की श्लोकसंख्या और विषय दिखाये हैं। गुरूपदेशनामक प्रथम प्रकरण में २० श्लोक हैं शिष्यानुभवनामक द्वितीय प्रकरणमें २५ श्लोक हैं आक्षेपोपदेशनामकं तृतीय प्रकरण में १४ श्लोक हैं ॥१॥

षडल्लासे लये चैवोपदेशे च चतुश्चतुः । पञ्चकं स्यादनुभवे बन्धमोक्षे चतुष्ककम् ॥२॥

अन्वयः- (चतुर्थे) उल्लासे षट् । लये च उपदेशे च एव चतुश्चतुः । अनुभवे पञ्चकम् । बन्धमोक्षे चतुष्ककं स्यात् ॥ २ ॥

शिष्यानुभवनामक चतुर्थ प्रकरण में ६ श्लोक हैं। लयनामक पंचम प्रकरण में ४ श्लोक हैं। गुरूपदेशनामक पष्ठ प्रकरणमें भी ४ श्लोक हैं। शिष्यानुभवनामक सप्तम प्रकरण में ५ श्लोक हैं। बंधमोक्षनामक अष्टम प्रकरणमें ४ श्लोक हैं ॥२॥

निर्वेदोपशमे ज्ञाने एवमेवाष्टकं भवेत् ।
यथासुखसप्तकंच शांतीस्याटे. दसंमितम् ॥३॥

अन्वयः- निर्वेदोपशमे एवं एव ज्ञाने अष्टकम् भवेत् । यथा सुखे च सप्तकम् । शान्तौ च वेदसंमितं स्यात् ॥ ३ ॥

निर्वेदनामक नवम प्रकरण में ८ श्लोक हैं । उपशमनामक दशम प्रकरण में ८ श्लोक है । ज्ञानाष्टकनामक एकादश प्रकरण में ८ श्लोक हैं । एवमेवाष्टक नामक द्वादश प्रकरण में ८ श्लोक हैं । यथासुखनामक त्रयोदश प्रकरण में ७ श्लोक हैं। शांतिचतुष्कनामक चतुर्दश प्रकरण में ४ श्लोक हैं ॥३॥

तत्त्वोपदेशे विंशाच्च दश ज्ञानोपदेश के ।
तत्त्वस्वरूपे विंशाच शमे च शतकं भवेत्॥४॥

अन्वय:- तत्त्वोपदेशे विंशत् । ज्ञानोपदेश के च दश । तत्त्वस्वरूप के च विंशत् । शमे च शतकम् भवेत् ॥ ४॥

तत्वोपदेशनामक पंचदशप्रकरण में २० श्लोक हैं। ज्ञानोपदेशनामक षोडश प्रकरण में १० श्लोक हैं। तत्वस्वरूपनामक सप्तदश प्रकरण में २० श्लोक हैं। शमनामक अष्टादशप्रकरण में १०० श्लोक हैं ॥४॥

अष्टकं चात्मविश्रान्तौ जीवन्मुक्ती चतुर्दश ।
षट् संख्याक्रमविज्ञाने ग्रन्थेकात्म्यं ततः परम् ॥५॥
विशकमितैः खण्डैः श्लोकैरात्मानिमध्यखैः।
अवधूतानुभूतेश्च श्लोकाः संख्याक्रमा अमी॥६॥

अन्वय:- आत्मविश्रान्तौ च अष्टकम् । जीवन्मुक्ती चतुर्दश । संख्याः क्रमविज्ञाने पट् । ततः परम् आत्माग्निमध्यखैः श्लोकः विंशत्येकमितैः खण्डैः ग्रन्थैकात्म्यम् (भवति) । अमी श्लोकाः अवधूतानुभूतेः संख्याक्रमाः (कथिताः) ॥ ५॥ ६ ॥

आत्मविश्रान्तिनामक उन्नीसवें प्रकरण में ८ श्लोक हैं। जीवन्मुक्तिनामक विंशतिक प्रकरण में १४ श्लोक हैं। और संख्याकमविज्ञाननामक एकविंशतिक प्रकरण में ६ श्लोक हैं और संपूर्णग्रंथ में इक्कीस प्रकरण और ३०३ श्लोक हैं। इस प्रकार अवधूत का अनुभवरूप जो "अष्टावक्रगीता" है उस के श्लोकों की संख्या का क्रम कहा। यद्यपि अंत के श्लोककर के सहित ३०३ श्लोक हैं परंतु दशमपुरुष की समान यह श्लोक अपने को ग्रहणकर अन्य श्लोकों की गणना करता है॥५॥६॥

इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां सान्वयभाषाटीकया सहितं संख्याक्रमव्याख्यानं नामैकविंशतिकं प्रकरणं समाप्तम् ॥२१॥

इति सान्वयभाषाटीकासमेता अष्टावक्रगीता समाप्ता।

पुस्तक मिलने का ठिकाना
गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,
"लक्ष्मीवेंकटेश्वर " छापाखाना,
कल्याण (जि. ठाणा.)